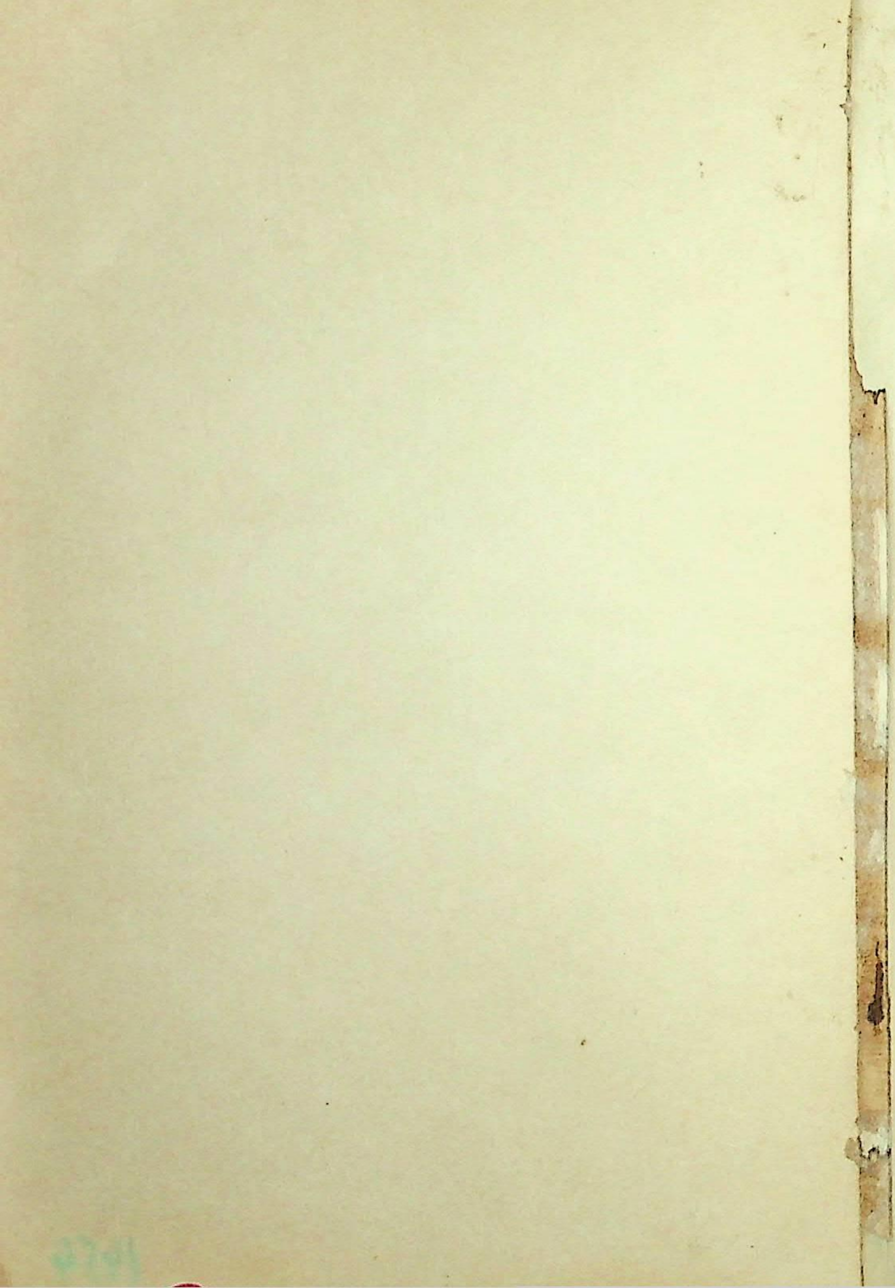
उपनिषदों का बोध

काका कालेलकर

सस्ता साहित्य मण्डल

[illegible]





उपनिषदों का बोध

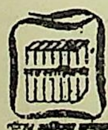
उपनिषद-साहित्य में से चुने हुए वचनों का विवेचन

•

काकासाहेब कालेलकर

•

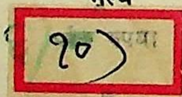
१९८२



सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

तीसरी बार : १९८२
मूल्य



मुद्रक
अग्रवाल प्रिंटर्स,
दिल्ली-.

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के विद्वान लेखक से हिन्दी के पाठक भली-भांति परिचित हैं। उनकी कई पुस्तकें 'मण्डल' तथा अन्य प्रकाशकों द्वारा निकली हैं। सभी पुस्तकों का देश के कोने-कोने में स्वागत हुआ है और उनसे असंख्य पाठकों ने प्रेरणा प्राप्त की है। उनमें से दो पुस्तकें तो बहुत ही लोकप्रिय हुई हैं: १. 'परमसखा मृत्यु' में लेखक ने मृत्यु को देखने की नई दृष्टि प्रदान की है और २. 'प्रकृति का संगीत' में उन्होंने प्रकृति का इतना सजीव और कलापूर्ण वर्णन किया है कि कोई कवि भी वैसा वर्णन शायद ही कर सके।

काकासाहेब का अध्ययन बड़ा विशाल और बड़ा गहन है। उनकी रुचि अत्यन्त व्यापक है। वह मौलिक चिन्तक हैं। उन्होंने जो कुछ पढ़ा है, उसे आत्मसात किया है। यही कारण है कि वह पुस्तकों में निहित ज्ञान को जीवन के साथ जोड़ते हैं और जीवन को समृद्ध बनाने के लिए उस ज्ञान का भरपूर उपयोग करते हैं। इसीसे उनका साहित्य जहां ज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान है, वहां वह जीवन-निर्माण की दृष्टि से भी अत्यन्त उपादेय है।

काकासाहेब ने सारे भारत का एक बार नहीं, अनेक बार भ्रमण किया है। इतना ही नहीं, संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहां काकासाहेब न गये हों। जापान तो वह संभवतः छः बार हो आये हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि देश-विदेश के भ्रमण में उन्हें जो अनुभव हुए हैं, उनको उन्होंने अपने तक ही सीमित नहीं रखा। लेखों तथा पुस्तकों के द्वारा पाठकों को भी उनमें भागीदार बनाया है। उनके प्रवास-वृत्तान्त इतने रोचक और शिक्षाप्रद हैं कि उन्हें बार-बार पढ़ने को जी चाहता है।

प्रस्तुत पुस्तक में मनीषी लेखक ने उपनिषदों के कुछ चुने हुए वचनों को लेकर बड़ी ही सरल एवं सुबोध भाषा में उनका सार पाठकों को दिया है। उपनिषदों का भंडार बड़ा ही समृद्ध है। उसमें से लोकोपयोगी विचार छांटना आसान काम नहीं है। काकासाहेब ने इस कठिन काम को बड़ी खूबी के साथ किया है।

पुस्तक इतनी उद्‌बोधक है कि पाठक उसे एक बार पढ़कर पटक नहीं सकेंगे। हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि इसे जो भी मनोयोगपूर्वक पढ़ेगा, उसे अवश्य लाभ होगा, वैसे भी ज्ञान के सागर में व्यक्ति जितना गहरा गोता लगाता है, उतने ही अनमोल रत्न उसके हाथ लगते हैं।

—मंत्री

भूमिका

भारतीय धर्म-साहित्य का प्रारम्भ वेदों के द्वारा हुआ। आज हमें चार या पांच वेद उपलब्ध हैं, ऋग्वेद, कृष्ण यजुर्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

इन्हीं वेदों की पुष्टि के लिए आरण्यक और ब्राह्मण ग्रंथ बनाये गये।

इस सारे साहित्य में मनुष्य-जीवन के और उसके आसपास के विश्व के रहस्य की बात जिसमें आती है, ऐसा तात्त्विक साहित्य बन गया, उसे उपनिषद कहते हैं। यह साहित्य वेद साहित्य के बाद आता है और उसमें वैदिक चिंतन की परिपूर्ति होती है। इसलिए इस अंतिम तात्त्विक परिपूर्तिरूप साहित्य को वेदान्त कहा जाता है। इस साहित्य में भारतीय चिंतन की पराकाष्ठा पायी जाती है।

इसी साहित्य में जो तत्त्वज्ञान उपलब्ध है, उसे व्यवस्थित रूप दिया ब्रह्मसूत्रों ने। ऐसे वैदिक साहित्य की जिसने व्याख्या की, उसे वेदव्यास कहा जाता है। व्यास याने व्यवस्था करने वाला।

वेदव्यास का असली नाम है कृष्ण द्वैपायन। बाद में अनेक लेखकों ने 'व्यास' नाम लेकर ही विशाल ग्रंथ रचना की। उस पौराणिक साहित्य में एक तरह की एकता अनुस्यूत है। इसलिए एक ही व्यास की यह सारी रचना है, ऐसा एक भोला विचार लोगों में प्रचलित है।

पौराणिक साहित्य का प्रारंभ रामायण-महाभारत से हुआ, जिसमें उत्तमोत्तम काव्य है, समाज-व्यवस्था का चित्र है। लोक कथाओं का तो वह भंडार ही है और तत्त्वज्ञान के विकास की श्रेणियां भी उनमें पायी जाती हैं। हजारों वर्षों की लोककथाएं और देव-देवियों के उपासना के प्रकार इस पौराणिक साहित्य में संग्रहीत हैं। भारतीय संस्कृति के प्राचीन

युग के सब अंग इन ग्रंथों में पाये जाते हैं। इसीलिए एक कहावत रूढ़ हो गई, 'व्यासोच्छिष्ट्म जगत् सर्वम् ।'

व्यास के महाभारत में भगवद्गीता नाम का एक प्रकरण संवाद के रूप में पाया जाता है । एक प्राचीन श्लोक कहता है :

सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपाल नंदन:
पार्थो वत्स: सुधीर भोक्ता दुग्धम् गीता मृतं महत् ।

गीता में सब उपनिषदों का सार तो है ही, किन्तु उपनिषद का ज्ञान कैवल्य प्राप्ति के लिए कैसे काम में लिया जाय, यह सारे समाज के लिए बताने वाला यह जीवन, सामाजिक जीवन, मोक्ष का आदर्श मान्य करने वाले 'मुमुक्षु-समाज' की जीवन-साधना कैसी होनी चाहिए, यह गीता ने बताया है।

इसलिए प्रधान दस-बारह, अठारह, बत्तीस या एक सौ आठ उपनिषदों का संग्रह, यह पहली मदद । ब्रह्मसूत्र यह दूसरी। और भगवद्गीता यह तीसरी । इन तीनों को 'प्रस्थानत्रयी' कहते हैं । अपने जीवन को मोक्ष की, ब्रह्मप्राप्ति की, यात्रा पर ले जाना है, इसमें मददरूप ये तीन ग्रंथ हैं। इसलिए इन्हें प्रस्थान कहते हैं।

उपनिषद-साहित्य में से चुने हुए वचनों का हमने इस पुस्तक में चिंतन किया है। इस चिंतन में भगवद्गीता की चर्चा बार-बार आई है। गीता ने अपना सारा दूध उपनिषदों से लिया है । अब हमारे लिए उपनिषदों का अर्थ, उनकी प्रेरणा और उनके मूल्यवान भाष्य ही हैं। उपनिषदों ने जो ज्ञान दिया, उसी को जीवन में उतारने की कला (योग) को हम जीवन-योग कहते हैं। इसी पर से हमने सूत्र चलाया है: "योग: जीवन-कौशलन् ।"

उपनिषदों का यह सर्वोपरि माहात्म्य देखकर बाद के लोगों ने अनेक छोटे-मोटे उपनिषद तैयार किये, जिनकी कुल संख्या दो सौ से भी अधिक होगी । लेकिन तत्त्व-चिंतन में प्रेरणा देने वाले उपनिषदों की संख्या बारह-पंद्रह से अधिक नहीं है। इन्हीं में से चंद वचन हमने चुने हैं और उन्हीं का विवेचन-चिंतन साधना के रूप में किया है।

इस सारे अध्ययन का सार यह है कि हम जो जीवन जीते हैं, इसमें हम याने हमारा शरीर, उसके ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और उनसे काम लेने वाले मन, बुद्धि और अहंकार हैं। इन सबमें जो सर्वश्रेष्ठ प्रेरक तत्त्व है उसे कहते हैं आत्मा।

यही आत्मा सब मनुष्यों में, सब प्राणियों में और समस्त विश्व में फैला हुआ है। इसलिए इसे परमात्मा कहते हैं और जिस विशाल सृष्टि में यह परमात्म-तत्त्व अपनी लीला का अनुभव करता है, उसी को कहते हैं विश्व।

समस्त उपनिषदों में आत्मा (जीवात्मा), परमात्मा (विश्वात्मा) और यह सारा विश्व इनका आपस में संबंध कैसा है, जीवन का हेतु क्या है, इसे सिद्ध करने की साधना क्या हो सकती है, यह सब विविध रूप में उपनिषदों ने दिया है। इस भूमिका को ध्यान में रखकर उपनिषदों के बोधों को हम स्वीकार करें और उसमें बताई हुई आत्मसाधना (जीवन-साधना) आजमाने का प्रयत्न करें।

काका कालेलकर

अनुक्रम

१ :: औपनिषदिक शिक्षा-क्रम

छांदोग्य उपनिषदों की सत्यकाम जाबाल की कहानी सब जानते हैं। जब वह शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के घर गया तब गुरु ने उसका गोत्र पूछा। सत्यवादी शिष्य ने सीधा जवाब दिया, "मेरा गोत्र जब मेरी मां ही नहीं जानती तो भला मैं कैसे बताऊं ?" "इस तरह का सत्यवादी लड़का ब्राह्मण ही हो सकता है," यों कहकर गुरु ने उसको यज्ञोपवीत की दीक्षा दी और आश्रम की खेती उसको सौंप दी। सत्यकाम ने ढोर, पक्षी और अग्नि से सारा ज्ञान प्राप्त किया और गुरु ने उसके ज्ञान को कसकर उसको 'ब्रह्मवेत्ता' की उपाधि दी। बाद में सत्यकाम आचार्य हुआ।

ब्रह्मचारी कमल-पुत्र उपकोसल आचार्य सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए बारह साल तक रहा। उसने गुरु के अग्नि की सेवा की। बारह साल बीतने के बाद गुरु ने दूसरे सब विद्यार्थियों को उत्तीर्ण किया और घर वापस जाने की अनुज्ञा दी। केवल उपकोसल को आज्ञा नहीं मिली। वह बेचारा सिफारिश के लिए गुरु-पत्नी के पास गया। गुरु-पत्नी ने आचार्य से कहा :

"बेचारे ब्रह्मचारी ने हमारे अग्नि की बारह साल तक खूब

सेवा की है। अब उसको ब्रह्मज्ञान दे दीजिये। इतनी सेवा करने के बाद भी अगर आप उसको ज्ञान न दें तो अग्नि ही नाराज होंगे।''

आचार्य ने कोई जवाब नहीं दिया और वे कहीं बाहर निकल पड़े।

इधर दुःखी ब्रह्मचारी ने अनशन शुरू किया। आचार्य-पत्नी ने पूछा,''बेटा, खाते क्यों नहीं ? कुछ तो खा लो !''

ब्रह्मचारी ने जवाब दिया, ''मनुष्य की कई इच्छाएं होती हैं। ऐसी ही एक इच्छा की व्याधि से मैं पीड़ित हूं। इसलिए नहीं खाता।''

उसने फिर से दृढ़ता के साथ अग्नि की ध्यानपूर्वक सेवा की। आखिरकार अग्नि संतुष्ट हुए। उन्होंने सोचा, ''इस ब्रह्मचारी ने हमारी उत्तम सेवा की है, तो चलिये, हम प्रकट होकर उसको ज्ञान दे दें।''

फिर गार्हपत्य अग्नि, अन्वाहार्यपचन अग्नि और आध्वनीय अग्नि ने प्रकट होकर अपना व्यापक स्वरूप और इस विश्व में जो तत्त्व है, उसका ज्ञान कराया। दुनिया में अनंतत्व ही सुख है, यह बताकर कहा, ''हमने यह आत्मविद्या तुमको बता दी। आगे का मार्ग तो गुरुगम्य है। आचार्य ही तुम्हें बतायेंगे।''

आचार्य सत्यकाम जब घर वापस लौटे तब उपकोसल को देखते ही उसके मुखश्री पर से उन्होंने पहचान लिया कि लड़का अब पहले के जैसा नहीं रहा है। बोले, ''अरे ! तुझे तो ज्ञान प्राप्त हुआ मालूम होता है ! किससे प्राप्त किया ?'' उपकोसल ने तीनों अग्नि के साक्षात्कार की बात कही। गुरुजी संतुष्ट होकर कहने लगे, ''अग्नि ने तुझको सब लोकों का ज्ञान

दे दिया है। अब मैं तुझे ब्रह्मज्ञान बताता हूं।"

गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर, कृतार्थ होकर, शिष्य ने बिदाई ली।

यूनान में शिष्य को प्रथम पदार्थ विज्ञान (फ़िज़िक्स) पढ़ाकर बाद में दर्शन या तत्त्वज्ञान पढ़ाया जाता था। सत्यकाम जाबाल और उसके शिष्य उपकोसल की कहानी से औपनिषदिक शिक्षा का भी यही क्रम मालूम होता है। पहले ढोर, पशु, पक्षी, अग्नि आदि का लौकिक ज्ञान अपने प्रयत्न से, निरीक्षण, परीक्षण से और प्रयोग के द्वारा प्राप्त करने के बाद ही गुरु औपनिषदिक विद्या यानी ब्रह्मज्ञान देते थे।

२ :: मेघगर्जना क्या सुनाती है ?

एक सुंदर कथा (या गुरु-शिष्य प्रश्नोत्तरी) बृहदारण्यक के पांचवें अध्याय के प्रारंभ में मिलती है।

प्रजापति सचमुच सब तरह की प्रजाओं का पिता ही होता है। देव, मनुष्य और असुर तीनों प्रकार की प्रजा उसी की संतति होती है।

एक दफा देव, मनुष्य और असुर मिलकर प्रजापति के पास गये। नियम के अनुसार शिष्य धर्म का पालन करने के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार किया, तब सवाल पूछने का

अधिकार उन्हें प्राप्त हुआ।

प्रथम देव प्रजापति के पास गये और उन्होंने कहा, "आप हमें उपदेश दीजिये, याने हमारा प्रधान जीवनधर्म क्या है, सो समझा दीजिये।"

प्रजापति ने प्रसन्न-गंभीर होकर उपदेश में एक ही अक्षर सुनाया 'द'। देव संतुष्ट हुए। प्रजापति ने तब पूछा, "क्या समझे हो ?" विलासी देवों ने अंतर्मुख होकर 'द' का अर्थ समझ लिया था। उन्होंने कहा, "आपने हमें आदेश दिया है, दाम्यत यानी दमन करो। इन्द्रियों का दमन करो। वासना पर विजय पाकर मोक्ष के योग्य हो जाओ।" प्रजापति ने प्रसन्न होकर कहा, "बहुत अच्छा, तुम लोग ठीक समझ गये। मेरा आदेश वही था।"

बाद में मनुष्य प्रजापति के सामने खड़े हुए। उन्होंने वैसी ही याचना की कि हमें हमारा जीवनधर्म समझा दीजिए। प्रजापति ने वही आदेश सुनाया 'द'। मनुष्य को संतोष हुआ। "तुम क्या समझे ?" ऐसा प्रश्न पूछने पर लोभी मनुष्यों ने कहा, "हम तो लेने के आदी हैं। जो मिला सो ले लेते हैं। संग्रह करते हैं। इसलिए आपने हमें आदेश दिया 'दत्त', यानी देते जाओ, दान करो। लेना तो हम जानते ही हैं। दे-दे करके सबकुछ दे देना और अपरिग्रही बनना, यही आपका आदेश है।" "बिल्कुल ठीक। तुम लोग अच्छी तरह समझे हो।" संतुष्ट प्रजापति ने अपनी सम्मति दे दी।

इसके बाद प्रजापति के सामने उपस्थित हुए असुर। फिर वही प्रश्नोत्तरी हुई और प्रजापति ने उनको भी उपदेश दिया 'द'। असुरों के चेहरे पर संतोष देखकर प्रजापति ने पूछा,

"क्या समझे ?"

क्रूर असुरों ने अंतर्मुख होकर कहा, "हम तो दिवस-रात्र कठोर होकर हिंसा ही करते हैं। इसलिए आपने हमें समझाया 'दयध्वं', यानी दया करो। सभी के प्रति मन में करुणा लानी चाहिए। हिंसा से हमारा उद्धार नहीं होगा। अहिंसा ही जीवन का सर्वस्व है।"

उनको भी प्रजापति ने कहा, "ठीक है। मेरा भाव तुम ठीक समझे हो।"

आकाश की बिजली ने गुरु-शिष्यों का अद्भुत संवाद सुना होगा। उसने सोचा, "एक ही अक्षर के द्वारा त्रिविध-स्वभाव के जगत को धर्म का उपदेश मिला है, इसी का मैं जोरों से प्रचार करूं। आकाश के बादलों द्वारा उसने 'द-द-द-द' की गर्जना की और सारी सृष्टि समझ गयी कि विलासिता छोड़कर इन्द्रिय-दमन करना चाहिए। लोभ पर विजय पाकर दान देना चाहिए और कठोरता, क्रूरता और हिंसा का त्याग करके दया धारण करनी चाहिए।

आत्म-संयमपूर्वक जीवन-शुद्धि करके सब जीवों के प्रति दया, करुणा, प्रेम और आत्मीयता बताकर निष्काम सेवा अर्पण करते रहना चाहिए।

३ :: "दुःखं जन्तोः परंधनम्"

संसार में अगर सुख नहीं होता तो करोड़ों लोग (और उनसे अनेक गुना अन्य प्राणी भी) सृष्टि के आरंभ से आजतक

जीने के लिए तैयार ही नहीं होते। नर-मादा के आनंदमय मिलन से बच्चे पैदा होते हैं। बच्चों की परवरिश में मां-बाप को कितना आनंद मिलता है। सब प्राणियों को जीवन में अधिक समय आहार ढूंढ़ने के लिए कष्ट करने पड़ते हैं। लेकिन कष्ट की सफलता का आनंद (आलस्यमय आनंद से) अधिक और श्रेष्ठ माना जाता है। अपने-अपने बच्चों की और अपने साथियों की रक्षा के लिए लड़ने में और अपनी जान को खतरे में डालने में जो बहादुर आनंद मिलता है, उसकी कीमत मामूली नहीं है।

और मनुष्य तो पुश्त-दर-पुश्त प्रगति करनेवाला प्राणी है। अपने पुरखों के पुरुषार्थ का इतिहास पढ़कर वह अभिमान से फूल जाता है। "ऐसे पराक्रमी पुरुषों का वंशज (यानी उत्तराधिकारी) हूं", ऐसा कहकर उनके सम्मिलित पुरुषार्थ को फीका करनेवाले नये-नये क्षेत्र ढूंढ़ने में जो आनंद है, वह तो प्रज्ञामेधा-संपन्न प्राणी ही समझ सकते हैं। ऐसे आनंदमयी पुरुषार्थ करने के बाद जो साफल्य की अनुभूति और स्मृति मिलती है, उसका आनंद पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। जीवन है ही आनंदमय। लाखों लोग और करोड़ों प्राणी जीने के लिए उत्सुक रहते हैं, यही बड़ा सबूत है कि जीवन आनंद-मय है।

चंद लोग कहते हैं, "जीवन होगा आनंदमय, लेकिन ऐसे जीवन का अंत मृत्यु में होता है, यह तो एक दुःख की बात है। जीवन का सब आनंद मृत्यु के कारण दुर्दैवी प्रतीत होता है।"

होगा, लेकिन अपनी रक्षा के लिए, देश की रक्षा के लिए,

ज्ञान की वृद्धि के लिए और ऐसे ही दूसरे उदात्त हेतु के लिए मरण पसंद करने में अत्यानंद है, इस अनुभव के साक्षी हमें प्रत्येक युग में मिलते ही रहते हैं।

और अब तो दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का नियम समझने के बाद और "दिन और रात्रि दोनों आनंदमय हैं", इसका अनुभव करने के बाद "जीवन परंपरा का आश्वासन", यह भी दैवी आनंद का एक नमूना है।

आनन्दात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।
(तैत्तिरीय उपनिषद्, भृगुवल्ली)

वैदिक ऋषियों ने ही अपना यह दृढ़ अभिप्राय दिया है कि जीवन आनंदमय है। आगे जाकर वे समझाते हैं कि आनंद को ही परब्रह्म समझकर उसकी उपासना करनी चाहिए।

इसने जबरदस्त पक्ष के विरोध में उतने ही जबरदस्त दार्शनिक पैदा हुए हैं, जो कहते हैं, "सर्वं दुःखं मनस्विनाम्।" वे यहां तक कहते हैं कि अगर आप सचमुच सोचनेवाले मनस्वी हैं तो आप देख सकेंगे कि सुख भी आखिरकार दुःख रूप ही है। अध्यात्म के जाल में न फँसे हुए बौद्धों का ही कहना है कि "जीवन सारा दुःख से भरा हुआ है। उससे बचने का एक ही उपाय है कि तृष्णा का नाश करो।"

जब दर्शन-शास्त्र भी सहायक नहीं हो सकता, तब स्वतंत्र रूप से सोचना चाहिए कि क्या जीवन सचमुच दुःखमय है या आनंदमय है? इसके साथ हमें यह भी सोचना चाहिए कि अगर जीवन का कोई हेतु है और उसमें दुःख का अंश (कम हो या ज्यादा) अपरिहार्य है, तो दुःख जीवन में है किसलिए?

केवल व्यवहार की बात सोचनेवाले लोग कहते हैं कि आनंद का अनुभव उत्कट करने के लिए ही कुदरत ने अथवा कुदरत के भगवान ने दुःख को विश्व में स्थान दिया है। भूख नहीं होती तो हमें अन्नानंद अथवा स्वादानंद पूरा-पूरा नहीं मिलता। 'सुखं हि दुःखानि अनुभूय शोभते।' अनेक दुःखों का अनुभव करने से ही सुख का सच्चा आनंद हमें पूरी मात्रा में मिलता है।

बात सही है। दूसरे लोग कहते हैं कि स्थूल रूप से देखा जाय तो कुदरत के घर में भले आदमी को पुरस्कार के रूप में सुख दिया जाता है और बुरे आदमी को सजा के रूप में दुःख दिया जाता है। इसी में न्याय है। यह कसौटी स्थूल रूप की ही भले हो, लेकिन इस कसौटी को सब प्राणियों ने मान्य रखा है। मनुष्य प्राणी इसमें अपवाद नहीं है। वह तो चिंतन की गहरायी में उतरकर इसी सार्वभौम नियम की यथार्थता समझ सकता है।

हम कहते हैं कि ईश्वर को हम केवल जन्मदाता पिता क्यों मानें? अथवा पुरस्कार अथवा सजा देनेवाला न्यायाधीश ही क्यों मानें? बहुत-से धर्म भगवान को राजाओं का राजा, मालिक, ईश्वर अथवा लार्ड मानते हैं। मनुष्य को इस दुनिया में माता-पिता का, मालिक का, राजा का और न्यायाधीश का हमेशा अनुभव होता है, इसलिए हम ईश्वर को माता-पिता कहते हैं, न्यायाधीश कहते हैं। 'ईश्वर' शब्द का अर्थ ही है मालिक, स्वामी अथवा राजा। हम उसे न्यायाधीश भी कह सकते हैं।

लेकिन जो न्याय करनेवाला न्यायाधीश भी नहीं है, राज्य

चलानेवाला प्रभु भी नहीं है, अपना ही हुक्म सर्वत्र चलता देखनेवाला राज्यकर्ता भी नहीं है, जन्म देनेवाला वह माता या पिता है या नहीं, सो भी हम नहीं जानते। हमारा नित्य का अनुभव है, लेकिन इस अनुभव की तरफ, आजतक किसी ने ध्यान दिया नहीं है। वह अनुभव कहता है कि ईश्वर असल में ज्ञान देनेवाला, अनुभव करानेवाला उत्तम शिक्षक या आचार्य ही है।

हमारे बचपन में हमारे शिक्षक रोज उठकर छोटी-मोटी सब बातों में हमें सजा देते थे, अथवा पुरस्कार देते थे। शिक्षक के पास पुरस्कार देने के लिए अगर कुछ भी न रहा तो वे हमें प्रसन्न होकर शाबाशी दे सकते थे और जरूरत पड़ने पर अंक और बढ़ती भी दे सकते थे। बढ़ती के लोभ से ही सीखनेवाला था हमारा जीवन उन दिनों।

अब वह जमाना नहीं रहा। अब शिक्षक न सजा देते हैं, न पुरस्कार। शिक्षक ज्ञान देता है। कार्य-कारण-संबंध का सार्व-भौम नियम समझाता है और उस नियम का बड़ी खूबी से अनु-भव भी कराता है।

शिक्षा पाना, अनुभव का स्वीकार करना, उस अनुभव को हजम करना परिश्रम का काम है। ऐसे परिश्रम से हम थक न जायं, हार न जायं, इसलिए शिक्षा-शास्त्री भगवान हमें समय-समय पर थोड़ा सुख देता है, लेकिन कठिनाइयों का अनुभव कराना यही तो शिक्षा का उत्तम अंश है, इसलिए शिष्य में जितनी योग्यता अधिक होगी, शिक्षक कठिन-से-कठिन उदा-हरण उसके सामने रखेगा।

मुझे बचपन का एक मीठा अनुभव याद है।

हम परीक्षा में बैठे थे। शिक्षक ने हमें प्रथम प्रश्नपत्र लिखवाया। दस में से आठ प्रश्नों का ही जवाब देना था। चाहे जो दो प्रश्न हम छोड़ सकते थे।

उस प्रश्नपत्र में एक प्रश्न कुछ कड़ा था। सब विद्यार्थियों ने उस प्रश्न को छोड़ दिया था। मैंने देखा कि उस कठिन प्रश्न में ही मेरे गणित के ज्ञान की अच्छी कसौटी होनेवाली है। मैंने वही प्रश्न प्रथम ले लिया। खूब सोचकर जवाब ढूंढ़ निकाला और जवाब सुंदर ढंग से लिख डाला। उसमें काफी समय गया। बाद में थोड़े समय में बाकी के छः प्रश्न के ही जवाब लिख सका। आठ में से सात के ही जवाब दिये। परीक्षा शनिवार के दिन थी। सोमवार के दिन परीक्षा का फल सुनने के लिए हम सब आतुर होकर वर्ग में पहुंच गये। कितना आश्चर्य ! मुझे पहला स्थान मिला था और सौ में से ९५ अंक मिले थे।

परीक्षा का फल प्रकट करके शिक्षक ने प्रसन्नता से कहा, "वह कठिन प्रश्न और सब विद्यार्थियों ने छोड़ दिया था। उसी को इस डी. बी.* ने हाथ में लिया और जवाब भी सुंदर ढंग से लिखा। सचमुच वह प्रश्न तुम्हारे वर्ग के लिए जरा कठिन था। औरों ने उसे छोड़ दिया सो ठीक ही किया। इस डी. बी. ने आठ में से सात का ही जवाब दिया है, तो भी मैंने उसे पूरे अंक दिये हैं। (फिर मेरी ओर देखकर) "मैंने पांच अंक कम दिये, क्योंकि तुम्हारे अक्षर खराब हैं, नहीं तो सौ के सौ ही दे देता। ठीक है न ?"

दूसरे दिन मुझे अकेले में देखकर शिक्षक ने कहा, "डी. बी.,

*काकासाहेब का नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण है।

वह कठिन प्रश्न मैंने तुम्हारी कसौटी के लिए ही प्रश्नपत्र में डाला था।"

तब से मैंने एक जीवन-सिद्धांत बना लिया है कि भगवान दुःख भेजता है, वह 'सजा' के तौर पर नहीं, किन्तु 'कसौटी' के तौर पर, और साथ-साथ 'कदर' करने की इच्छा से भी। उस दिन से दुःख को मैंने कभी सजा या आफत माना ही नहीं। जीवन-स्वामी (भगवान को मैं जीवन-स्वामी क्यों कहूं?), जीवनाचार्य दुःख भेजते हैं, कठिनाई भेजते हैं, वह भी आखिरकार सफलता का आनंद कमाने के अवसर के रूप में ही। कसौटी के द्वारा कदर करने के लिए ही मैंने तय किया :

"दुःखं जन्तोः परंधनम्।"

४ :: ब्रह्मलोक-प्राप्ति के साधन

संभव है कि दस उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद अधिक पुराना है। इसमें छः प्रश्नकर्ता शिष्य-भाव धारणकर पिप्लाद ऋषि से प्रश्न पूछने आते हैं।

स्कंद पुराण में लिखा है कि पिप्लाद याज्ञवल्क्य के लड़के थे, लेकिन अगर प्रश्नोपनिषद् सबसे पुराना हो तो यह कोई दूसरे पिप्लाद ऋषि होने चाहिए।

इन्होंने आये हुए शिष्यों से कहा, "एक साल ब्रह्मचारी यानी शिष्य बनकर मेरे आश्रम में रहो। बाद में जो पूछना है सो पूछ सकते हो।" उन्होंने वैसा ही किया। पिप्लाद ऋषि में

नम्रता थी। साथ-साथ साधना का आग्रह भी था। उन्होंने शिष्यों से कहा, "आप सवाल पूछ सकते हैं। अगर जवाब मेरे पास है तो दूंगा। मेरे पास कितना है, कितना नहीं है, सो भी साफ-साफ कहूंगा। जो ज्ञान मेरे पास है, वह अगर मैंने नहीं दिया तो मेरा नाश होगा।" इन छः शिष्यों ने कौन से प्रश्न पूछे और पिप्लाद ने कौन से जवाब दिये, इसके विस्तार में हम नहीं जायेंगे। हम तो एक ही श्लोक लेंगे।

तेषां एव एष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं
येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्
तेषां असौ विरजो ब्रह्मलोका
न येषु जिह्मं अनृतं न माया च इति ।।

अर्थात्, यह ब्रह्मलोक (आत्मा-परमात्मा की प्राप्ति) उन्हीं को मिलती है, जिनके अंदर तप, ब्रह्मचर्य और सत्य मजबूत अथवा स्थिर हुआ है। दुःख या रजोगुण से मुक्त ब्रह्मलोक उन्हीं को मिलता है, जिनमें जिह्म (टेढ़ापन) नहीं है, अनृत, असत्य, अज्ञान नहीं है और माया यानी दूसरे को ठगने का कपट नहीं है।

यहां तप का अर्थ है संयम और परिश्रम। इन्द्रियों का संयम करना और निष्पाप जीवन जीने के लिए और ज्ञान-प्राप्ति के लिए शारीरिक और बौद्धिक मेहनत करते रहना, (परिश्रम करने से शरीर तपता है, गरम होता है।) वही सच्चा तप है।

ब्रह्मचर्य के दो अर्थ हैं। ब्रह्म याने वेद (यानी अध्यात्म-ज्ञान के ग्रन्थ) इन्हीं के अध्ययन के लिए अपने जीवन में जरूरी परिवर्तन करना, यही ब्रह्मचर्य है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ

हो गया वीर्यरक्षा। मनुष्य के शरीर में जो वीर्य पैदा होता है, उसी में उसके सारे शरीर का सार एकत्र होता है। वीर्य में अद्भुत शक्ति है। उसी के द्वारा एक संपूर्ण जीवित शरीर पैदा होता है। इस वीर्य की शक्ति का संयम करके उसका उपयोग ब्रह्मज्ञान के लिए किया तो मनुष्य का उद्धार हो जाता है। इसलिए ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है—कामादि विकारों पर काबू प्राप्त करके वीर्य की रक्षा करना और उस वीर्य-शक्ति की मदद से सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य पाना और उसी ज्ञान के अनुसार ब्रह्मरूप हो जाने के लिए जरूरी साधना करना, यह सब ब्रह्मचर्य में आ जाता है।

सत्य का अर्थ होता है जीवन का सर्वोच्च रहस्य, और उसी को पाने के लिए समस्त जीवन का उपयोग करने का निश्चय। परमात्मा ही परम सत्य है। वही हमारे हृदय में आत्मा के रूप में विद्यमान है। इस आत्म-शक्ति को जागृत करके परमात्मा के साथ एकरूप हो जाना, यही है सच्चा और अंतिम जीवन-योग।

इस श्लोक में बताया है कि तपस्, ब्रह्मचर्य और सत्य, यही है साधना। इसी के द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

साधना में क्या टालना चाहिए, सो भी बताते हैं। जिह्म, अनृत और माया, ये तीन दोष दूर करने ही होंगे।

इसमें जिह्म माने हैं टेढ़ापन। जीवनयोग की साधना शुरू की तो उसके बाद इस साधना के विरुद्ध जो-जो बातें हैं, वह सारा जिह्म है। विषयानंद, अहंकार, लोभ आदि सब बातें जिह्म में आ जाती हैं।

सत्याचरण को 'ऋतम्' कहते हैं। इसके विरुद्ध आचरण

हो गया 'अनृत'। जो हम जानते हैं उसे न कहना, और नहीं जानते हैं, उसे जानने का दंभ करना, दोनों अनृत हैं।

और माया माने कपट, ठगने की वृत्ति।

अध्यात्म की साधना में आगे बढ़ने पर कभी-कभी कुछ गूढ़ शक्तियां मनुष्य में पैदा होती हैं। उनकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिए। उन शक्तियों का उपयोग आप-ही-आप हो गया तो ठीक है, लेकिन ऐसी शक्तियों का दावा करना, उनकी अतिशयोक्ति करना, उन्हीं का धंधा करना और समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना, यह सब माया-ही-माया है। माया का एक अर्थ है शक्ति। शक्ति के दुरुपयोग को यहां माया कहा है। जिह्म, अनृत और माया, इन दोषों से जो मुक्त है, वही ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, औरों को उसी साधना में मदद भी दे सकता है।

प्रश्नोपनिषद् में से यही एक श्लोक लेकर उसका विवेचन करना था।

प्राचीनकाल से आत्मसाधना का, ब्रह्मसाधना का जो प्रयत्न चला, उसके बारे में थोड़ा कहना जरूरी है।

इस सारे विश्व का रहस्य समझने के लिए हमारे पास क्या साधन हैं, सो हम प्रथम देखें।

पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय, यह है हमारा प्राथमिक साधन।

इन दस इन्द्रियों से काम लेनेवाला आंतरिक इन्द्रिय है मन। संस्कृत में इन्द्रियों के लिए 'करण' भी कहते हैं। इन इन्द्रियों से काम लेनेवाला जो आंतरिक इन्द्रिय है, उसका नाम हुआ अंतःकरण। वही है मन, बुद्धि, चित्त और भावना।

इनकी शक्तियां बढ़ानी चाहिए।

शरीर जीवित है तबतक उसमें प्राण काम करता है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, प्राण के ही ये भिन्न-भिन्न स्थान और रूप हैं। जो प्राण मुझमें है, वही सबमें है। इसीलिए दूसरों की प्राण-शक्ति मैं जगा सकता हूं।

यह प्राण-शक्ति आई कहां से? यह आती है सूर्य से। लोग मानते हैं कि सूर्य से हमें केवल उष्णता और प्रकाश मिलते हैं, लेकिन इन दोनों की अपेक्षा कई असंख्य गूढ़ शक्तियां हमें सूर्य से मिलती हैं। इसीलिए सूर्य के उगते ही ऋषि उत्साह से उस का स्वागत करते कहता है, "प्राणः प्रजानां उदयति एष सूर्यः।" (जो प्राण मुझमें है, सब प्राणियों में है, उसका उगम ही सूर्य से है।) इसीलिए जब लड़के को गुरु के पास भेजकर विद्यारंभ कराते हैं तब उसे सूर्य की स्तुति पर एक वैदिक मंत्र सिखाते हैं:

ॐ तत् सवितुर वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

प्राचीन काल में लोगों ने देखा कि सूर्य की उष्णता से खेती की जमीन का कस बढ़ता है। जमीन में बोये हुए धान्य उगते हैं। यह देखकर शुरू में वे सूर्य की उपासना करने लगे। ऐसी उष्णता और प्रकाश हम अन्यत्र कहां से पा सकते हैं?

आजकल दियासलाई से हमें तुरन्त प्रकाश मिल जाता है, लेकिन इसके पीछे हजारों वर्षों की वैज्ञानिक साधना है।

लोहे के टुकड़े को चकमक के पत्थर पर घिसने से अग्नि प्रकट होता है। इसका अनुभव गांव के लोगों को है। जब दियासलाई नहीं थी तब चकमक के पत्थर और लोहे के टुकड़े

से ही अग्नि प्रकट करते थे। लेकिन जब लोहे का आविष्कार नहीं हुआ था तब अग्नि (उष्णता और प्रकाश) पैदा करने का साधन क्या था ?

बिलकुल सूखी हुई लकड़ी की एक बड़ी तख्ती जमीन पर रखते थे। उसमें एक छोटा-सा खड्डा बनाया जाता था। ऐसी लकड़ी को 'अरणी' कहते थे। एक बड़े डंडे के जैसे लकड़ी का टुकड़ा अरणी के खड्डे में खड़ा करते थे। उसे 'उत्तरारणी' कहते थे। एक रस्सी उत्तरारणी में लपेटकर मंथन करते थे। अरणी पर उत्तरारणी का घर्षण चलने से लकड़ी में गर्मी पैदा होती थी। धीरे-धीरे उसमें से धुँआ पैदा होता है। जब मंथन काफी समय तक जोरों से किया जाता था तब उसमें से आप-ही-आप ज्वाला पैदा हो जाती है। यही थी मनुष्य के प्रयत्न से अग्नि पैदा करने की साधना। पुराने साहित्य में अरणी और उत्तरारणी की उपमा स्थान-स्थान पर आती है।

बड़ी मेहनत से जो अग्नि प्राप्त किया, उसे संभालना, जलते रखना और उसे पोषण देना, यही था संस्कृति का बड़ा काम। इसका नाम हुआ यज्ञ। अग्नि को जलाना, उसे घी आदि खिलाना, उस अग्नि में आहुतियां आदि डालना, यह हो गया सबसे श्रेष्ठ धर्मकृत्य।

सूर्य और अग्नि दोनों हो गये समस्त पुरुषार्थ के और सिद्धि के साधन।

इसलिए अध्यात्म के ग्रन्थों में प्राण, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि तत्त्वों की चर्चा बार-बार आती है।

५ :: देव और ब्रह्म की आख्यायिका

केनोपनिषद के चार खण्ड हैं। उनमें चौथे और पांचवें खण्ड में एक सुंदर आख्यायिका दी गयी है। उसमें लिखा है।

जब देवों का और असुरों का युद्ध हुआ—ऐसा युद्ध अनेक बार होता आया है—तब परब्रह्म ने देवों के लिए विजय प्राप्त की। वह विजय सचमुच थी तो ब्रह्म की, लेकिन उससे देवों में घमंड आ गया। वे सोचने लगे कि यह हमारी ही विजय है। हमारी ही महिमा है।

ब्रह्म उनका यह अभिमान समझ गया और उसे दूर करने के लिए ब्रह्म उनके सामने प्रकट हुआ। लेकिन देव यह अद्भुत वस्तु क्या है, नहीं समझ सके।

इसलिए उन देवों ने अपने में से अग्निदेव से कहा, "हे जातवेद अग्निदेव, यह क्या यक्ष है, ढूंढ़ लो।"

अग्निदेव ने कहा, "ठीक है।"

अग्नि उस यक्ष की ओर दौड़ गये। उस यक्ष ने (ब्रह्म ने) पूछा, "तुम कौन हो ?" जवाब मिला, "मैं अग्नि हूं। जातवेदा भी मुझे कहते हैं।" ब्रह्म ने अग्नि से फिर पूछा, "तुममें कौन-सी शक्ति या बहादुरी है ?" अग्नि ने कहा, "पृथ्वी पर जो है, उस सबको मैं जला सकता हूं।"

ब्रह्म ने उसके सामने घास का तिनका रखा और कहा, "इसे जला दो।"

अग्नि पूरे वेग से उसके ऊपर गया, लेकिन उसे जला नहीं सका। हारकर अग्नि वहां से लौटा और उसने कहा, "यह

यक्ष क्या है, यह मैं जान नहीं सका।"

तब देवों ने वायु से कहा, "हे वायुदेव ! यह क्या यक्ष है, इसका पता लगा लीजिये।" वायु उसकी ओर वेग से बढ़ा। वायु ने भी कहा, "जी, ठीक है।" फिर वायु तिनके के पास जोर से आगे बढ़ा। ब्रह्म ने उससे भी पूछा, "तुम कौन हो ?" वायु ने कहा, "मैं वायु हूं। मुझे वात रिश्वा भी कहते हैं।" ब्रह्म ने पूछा, "तुममें कौन-सा सामर्थ्य है ?" उसने कहा, "पृथ्वी में जो कुछ है, वह ले सकता हूं। पकड़ करके ला सकता हूं।"

ब्रह्म ने उसके सामने भी घास का तिनका रखा और कहा, "इसे उठा लो।" वायु जोर-से उसकी ओर गया, लेकिन उसे उठा नहीं सका। शर्मिंदा होकर वायु वहां से लौटा। उसे भी कहना पड़ा, "यह यक्ष क्या है, यह मैं नहीं समझ सका।"

तब इंद्र से देवों ने कहा, "मघवन, तुम जाकर पहचान लो कि यह यक्ष क्या है ?"

उसने भी कहा, "ठीक है।" इंद्र भी तिनके के पास पहुंचे।

उसके सामने वह यक्ष अदृश्य हो गया।

उसी जगह पर इंद्र ने एक अति सुंदर, सुवर्णमयी स्त्री उमा को देखा। इंद्र ने उस स्त्री से पूछा कि यह यक्ष क्या था ?

उसने कहा, "वह तो ब्रह्म था। ब्रह्म की ही इस विजय में तुम लोग अपना बड़प्पन मानते थे।"

तब उसे मालूम हुआ कि यह ब्रह्म ही है।

इस तरह से अग्नि, वायु और इंद्र अन्य देवों से श्रेष्ठ हो गये, क्योंकि उन्होंने ब्रह्म के पास जाकर उसे स्पर्श किया और उसे ब्रह्म के रूप में पहचान लिया।

इसीलिए सब देवों में इंद्र सबसे बड़े साबित हो गये, क्योंकि उन्होंने निकट जाकर सबसे पहले जाना कि वह ब्रह्म है।

आख्यायिका यहां खत्म होती है।

जहां यह आख्यायिका पूरी होती है, उसके बाद चार मंत्र में यह उपनिषद पूरा होता है।

६ :: "एकोऽहं बहुस्याम्"

इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, किस चीज में से हुई, उत्पत्ति के पहले क्या था, इसका नाश कैसे होता है, नाश के मानी क्या हैं, सर्वनाश के बाद नयी उत्पत्ति कहां से होती है, ऐसे-ऐसे सवाल हरएक के मन में उठते हैं और चिंतन करते-करते यकायक मनुष्य अंतर्मुख होकर पूछता है, "यह प्रश्न जिसके मन में उठते हैं, वह कौन है? कहां से आया है? कहां जायेगा?"

इन गूढ़ प्रश्नों का उत्तर सृष्टि से नहीं मिल सकता। कल्पना ही करनी पड़ती है। प्रश्न पूछने वाला अपने को जानने की कोशिश करता है तब उसे अपना ही साक्षात्कार करना पड़ता है। सृष्टि थी नहीं। ऐसी अवस्था का मैं अकेला साक्षी था। मेरी सृष्टि कहां से हुई? यह प्रश्न अवश्य उठता है, लेकिन तुरन्त पता चलता है कि वह अतिप्रश्न है। जब कुछ नहीं था तब मैं सोचनेवाला अकेला था। ऐसा ख्याल जागृत होते ही मनुष्य घबड़ा जाता है। तब तुरन्त मन ही अपने से पूछता है,

मैं किससे डरूं ? जब दूसरा कोई होता है तब डर पैदा हो सकता है। दूसरा है नहीं ता डर भी नहीं है। "द्वितीयात् वै भयं भवति।" डर तो बिना अर्थ का साबित हुआ। वह चला गया। लेकिन अकेले आनंद नहीं आता। उसका क्या ? "एकाकी न रमते।" आनंद पाने के लिए आदान-प्रदान की जरूरत होती है। उसके लिए अपने में से ही दूसरा पैदा करना चाहिए।

जिस द्वितीय से भय पैदा होनेवाला था, उसी द्वितीय की इच्छा उसमें पैदा हो गयी : "स द्वितीयं एच्छेत्।" इसी में से सृष्टि पैदा हुई। एक अनेक बनेगा, तब उसमें एकत्व की भूख जागृत होगी और उस भूख के निवारण से जो एकत्व फिर से प्राप्त होगा, वही होगा आनंदातिशय।

एकत्व में रहना और एकत्व को पा लेना, इसमें अंतर है। पाने में आनंद है, इसीलिए परब्रह्म ने संकल्प किया— "एकोऽहं बहुस्याम्।"

७ :: रूढ़ उपासना छोड़ो, सच्चा ज्ञान लो

केवल हिंदू धर्म की बात नहीं है। सब धर्मों में मुख्य प्रेरणा देते हैं ईश्वर प्रेरित नबी, पैगंबर, प्रोफेट, ऋषि-मुनि, अवतारी पुरुष अथवा महात्मा लोग। वे अपने आसपास के लोगों की भाषा में, वे समझ सकें ऐसे शब्दों में, अपनी नसीहत, प्रेरणा

और सलाह-सूचना देते हैं। उनके उत्तमोत्तम शिष्य गुरुमहाराज का उपदेश लिख रखते हैं ।

सामान्य जनता गूढ़ बातें समझने की शक्ति न होने से अपने प्रति अविश्वास बढ़ाती है कि हम ये सब बातें कहां से समझ सकते हैं ?

साथ-साथ सामान्य जनता इस निश्चय पर भी आती है कि "नबीसाहेब, ऋषिजी ने जो कुछ भी कहा है, अथवा उनके जो वचन उनके प्रेरित भक्त लोगों ने लिख रखे हैं, उसके हरएक वचन, हरएक वाक्य और शब्द ईश्वर-प्रेरित हैं। हमारा काम उस सारे ईश्वर-प्रेरित उपदेश का अर्थ समझने का ही है।

नतीजा यह होता है कि धर्म-ग्रंथ समझने के लिए अध्यात्म-शास्त्र में प्रगति करने की जगह ये लोग व्याकरण की और शब्दशास्त्र की मदद लेते हैं।

धर्मग्रंथों का अर्थ करनेवाले अभिमानी भाषा पंडित व्याकरण और भाषाशास्त्र का जोर लगाकर ग्रंथों में से जो भी अर्थ निकल सकता है, वह सारा, अथवा दूसरा मनमाना अर्थ अपनी विद्वत्ता के जोर से जनता पर लादते हैं।

इसी में से संप्रदाय तैयार होते हैं। वेद, बाइबिल, कुरान आदि ग्रंथों के हरएक वचन को यही आग्रह सहन करना पड़ता है। उसी से सांप्रदायिक रूढ़ियों को धर्मग्रंथों का समर्थन प्राप्त होता है।

जो लोग अध्यात्म में उत्तम साधना करते हैं और उस अध्यात्म का विनियोग करने का रास्ता समाज को बताते हैं और इसके लिए धर्ममान्य अथवा अध्यात्म की अनुकूल समाज-

व्यवस्था बनाते हैं, उन्हें पुरानी रूढ़ियों का विरोध करना पड़ता है।

हमारे उपनिषदों में अगर कोई ऋषि-वचन मिला कि "ब्रह्म के बारे में मैं जो समझ रहा हूं, वही सही है, रूढ़िधर्म के लोग बड़ी संख्या में पुश्त-दर-पुश्त जिस ब्रह्म की मनमानी उपासना करते हैं, वह सच्चा ब्रह्म नहीं है" तब अध्यात्म की सीधी-सच्ची उपासना करनेवाले लोगों के लिए ऐसे वचन से बड़ा बल मिलता है।

केनोपनिषद के अंत में एक बात आती है, जिसमें ऋषि शिष्यों से कहता है, "तुमने मुझसे कहा कि गूढ़-रहस्य-उपनिषद हमें समझा दो। तुम्हारी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए ब्रह्म का रहस्य समझाने वाली यह ब्राह्मी उपनिषद मैंने तुमको कह दिया है।" (केन, ३२)

इसके पहले ब्रह्म का सच्चा स्वरूप शुद्ध रूप में और जरूरी विस्तार से, कहकर ऋषि ने कहा है, "मैंने जैसा समझाया है, वैसे ब्रह्म को शुद्ध रूप से समझ लो।

"सामान्य जनता रूढ़िधर्म के वश होकर जिस ब्रह्म की उपासना करती है वह सच्चा ब्रह्म नहीं है।" तब हम समझ सकते हैं कि ऋषियों के दिनों में भी सामान्य जनता जिन विचारों को धर्मविचार समझकर अमल में लाती है, उनमें गलतियां हो सकती हैं और फिर ऋषियों को गलत विचारों का विरोध करना पड़ता है। यह है ऋषि का वचन :

"तत् ऐव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यत् इदं उपासते।"

ऋषि ने यह वचन पांच बार, पांच श्लोकों के अंत में, कहा

है। (केनोपनिषद ४,५,६,७,८.)

८ :: श्रेय और प्रेय

थोड़े शब्दों में गंभीर विचार सुंदर ढंग से व्यक्त करने की उपनिषद के ऋषियों की शैली के बारे में कहना ही क्या ! पढ़ते-पढ़ते पता नहीं चलता कि बीच-बीच में आनेवाले ऐसे सुंदर वचन कब और कैसे कंठ हो गये। सोच रहा हूं कि इस तरह आप-ही-आप कंठ हुए औपनिषदिक वचनों का संग्रह करूं और एक-एक वचन पर एक-एक, अथवा अधिक, प्रवचन लिखूं। जिस वक्त जो भाव मन में प्रधान हो जायं, उसी को लेकर एक प्रवचन लिखूं और उसे भूल जाऊं। तब बिलकुल अलग दूसरे संदर्भ में वही वचन नया अर्थ और नया संदेशा देता है। उसका प्रवचन अलग ही हो जाता है। पता नहीं, चंद वचनों के इस तरह कितने अवतार हो चुके होंगे।

आज इन वचनों से प्रारंभ नहीं करूंगा, लेकिन दो-दो शब्दों की दो-दो जोड़ियों से प्रारंभ करने को जी चाहता है।

पहली जोड़ी है श्रेय और प्रेय की। यह जोड़ी लोकचिंतन में बार-बार आती है। इसलिए इसमें कोई नवीनता नहीं दीख पड़ती। लेकिन जब कठोपनिषद के ऋषि ने श्रेयस् और प्रेयस् का भेद बताया तब सुननेवाले अन्तेवासियों को कितना हर्ष हुआ होगा। श्रेयस् और प्रेयस् के साथ ऋषि विद्या और

अविद्या को भी ले आये हैं और बाद में हमें साम्पराय (मृत्यु के बाद की स्थिति) तक ले गये हैं।

(कठोपनिषद—१ अ० २ वल्ली)

हर मनुष्य सुख चाहता है। दुःख को टालता है। सुख-दुःख दोनों भावनाएं जीवन में प्रधान प्रेरक तत्त्व हैं। लेकिन तत्त्व-ज्ञान कहता है कि सुख और दुःख दोनों अंधे हैं। उनका निर्णय नहीं मानना चाहिए। आज इन दोनों शब्दों का अर्थ चाहे जितना व्यापक हो, असली अर्थ तो इंद्रियों के साथ ही संबंध रखता है। सुख और दुःख दोनों में जो समान अक्षर है 'ख', उसका अर्थ होता है 'इंद्रिय।' इंद्रियों के लिए जो अनुकूल है, वह है सुख। इंद्रियों को जो चीज प्रतिकूल है, उसे कहते हैं दुःख।

जीवन का रहस्य समझने वाले ऋषि कहते हैं, सुख इंद्रियों के लिए अनुकूल है, इसीलिए उसके पीछे जाना वहुत बार खतरनाक होता है। इंद्रियों के लिए जो चीज अनुकूल है, वही जीवन के लिए बाधक होती है। तब उसे छोड़ने के लिए जो भावना अंदर से सलाह देती है, उसी को कहते हैं श्रेय।

कभी-कभी दुःख सहन करने में पीड़ा चाहे जितनी हो, हमारी उन्नति ही होती है। जीवनानुभव समृद्ध होता है। ऐसे समय इंद्रियां भले कहें कि यह दुःख टालो, टालो, टालो, हमें इंद्रियों की आवाज नहीं सुननी चाहिए और अभिनंदन के साथ दुःख को स्वीकार करना चाहिए। जो भावना ऐसी शुभ और हितकर सलाह देती है, वही है श्रेयस्।

ऐसा अनुभव नित्य होने के बाद अनुभव के लिए यथायोग्य शब्द बनाकर देनेवाले ऋषियों ने हमें दो शब्द बना करके दे दिये।

प्रेयस् और श्रेयस्। सुख-दुःख की सलाह मानकर चलता है प्रेयस् और जीवन के लिए जो अत्यंत हितकर है, कल्याणकारी है, शुभपरिणामी है उसके लिए शब्द बनाया श्रेयस्।

और फिर अपने अनुभव के बल पर मानव-जाति को ऋषियों ने सलाह दी, "श्रेयस् अलग है, प्रेयस् अलग है। दोनों का फल अलग है। श्रेयस् के पीछे जाने से कल्याण होता है। जो प्रेय को पसंद करता है, उसकी हानि होती है। जब श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के सामने आकर खड़े होते हैं तब बुद्धिमान धीर पुरुष दोनों को पहचान लेता है।" अनुभव है कि धीर पुरुष प्रेय को एक ओर रखकर श्रेय को ही पसंद करता है। जो आदमी बुद्धिमंद है, वह तो अपनी सहूलियत देखकर प्रेय को पसंद करता है।

बुद्धिमान जानता है कि हमारा जीवन मरण के साथ समाप्त नहीं होता। मरण के साथ शरीर समाप्त होता है। लेकिन हम तो शरीर के बिना जीवित रहकर समाज पर असर भी करते हैं। जन्म-मृत्यु के बीच का छोटा-सा जीवन पूर्णजीवन नहीं है। मृत्यु के बाद का जो जीवन है (उसके लिए ऋषियों का शब्द है साम्पराय) उसका भी विचार करना चाहिए। तब जाकर श्रेय की शुभकारिता हम समझ सकते हैं।

इहलोक और परलोक मिल करके जो जीवन बनता है, वही सच्चा और पूर्ण जीवन है। उसी का विचार जिसे है, वही धीर पुरुष है, वही जीवन-संग्राम में विजयी बनता है।

८ :: मोक्ष-सिद्धि की साधना

हम लोगों का सामान्य विचार है कि वेदकाल के बाद उपनिषद आते हैं। उनके बाद कौरव-पांडवों के युद्ध का इतिहास याने महाभारत आता है। उसके बाद बाकी के पुराण-उपपुराण आते हैं। लेकिन ऐसी व्यवस्था नहीं है। वेदकाल और उपनिषदकाल एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं। उपनिषदकाल महाभारत के पूर्व भी है और उसके बाद भी है। बड़ा दीर्घकाल है वह।

उपनिषद कई बार पढ़ चुका हूं। छांदोग्य उपनिषद पर मैंने जेल के दिनों में लिखा भी है, लेकिन भूल गया था कि छांदोग्य में देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का जिक्र आता है और वह भी वेदकालीन एक ऋषि के शिष्य के रूप में।

वेदकाल में सबसे पहले तो लोग यज्ञयागादि शुभधर्म-कार्य करके स्वर्गप्राप्त की इच्छा करते थे। उन दिनों कर्म का अर्थ होता था स्वर्ग की इच्छा से किये जानेवाले यज्ञयागादि कर्म।

यज्ञ आदि कर्म करके स्वर्ग प्राप्त करने का आदर्श जब गौण हुआ तब पुरानी परिभाषा व्यापक बनाई गई। जीवन को ही यज्ञ समझने लगे और स्वर्ग की जगह मोक्ष का आदर्श धीरे-धीरे सर्वमान्य हुआ।

कालक्रम का विचार छोड़कर हम कह सकते हैं कि वेद-काल स्वर्ग-परायण था। उसके बाद उपनिषद काल आया। जब धार्मिक लोग स्वर्ग को गौण बनाकर मोक्ष की इच्छा करने लगे। भारतीय संस्कृति में यह बड़ा परिवर्तन हुआ। जो हो,

अग्नि जलाकर उसमें आहुति डालने की यज्ञक्रिया का महत्त्व नहीं रहा और यज्ञ का अर्थ ही व्यापक बनाया गया। "जीवन ही यज्ञ है।" "यज्ञ के बिना जीवन परिपूर्ण हो नहीं सकता" आदि वचनों के द्वारा पुराने हवन को आदरयुक्त तिलांजलि दी गई।

वेदान्त अथवा मोक्षधर्म आया, उसके साथ जीवन ही एक बला है, जबतक वासना है तबतक "जीवन जीना ही पड़ेगा जन्म लिया है तो उसे पूरा करना ही चाहिए। लेकिन एक बार ऐसी खूबी से जीओ कि फिर से जन्म ही लेना न पड़े।" यह हो गया नया आदर्श। जीवनानंद की बात बेवकूफी-सी हो गयी। इस जन्म का मुख्य उपयोग यही कि मरण के बाद फिर जीने के झंझट में पड़ना न पड़े। यह हो गया सर्वमान्य हिंदूधर्म का अंतिम आदर्श। महात्मा गांधी तक इस आदर्श को माननेवाले लोग पाये जाते हैं। संत तुकाराम जैसे भक्त, भक्ति, का आनंद व्यक्त करने के लिए, कहते हैं कि "अगर भक्ति का यह आनंद मिलता रहे तो हम बार-बार जन्म लेने को तैयार हैं।" ("तुका म्हणे गर्भवासी। सुखे घालावें आम्हासी।")

तुकाराम जैसे अद्वैतानंद-प्राप्त भक्त भक्ति का अनुभव करने के लिए पुनर्जन्म को मान्य करने को तैयार हो जायं, लेकिन पुनर्जन्म के द्वारा नया-नया जीवनानंद प्राप्त करने का आग्रह उनके मन में भी नहीं होता। मोक्ष का आनंद सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें मनुष्य अपना व्यक्तित्व पूर्णतया भूल जाता है और समस्त विश्व के साथ अपनी एकता का अनुभव करने में रम-माण हो जाता है।

अद्वैत का अनुभव याने विश्वात्मैक्य का आनंद प्राप्त करने के लिए जिन आध्यात्मिक-सांस्कृतिक-सामाजिक सद्‌गुणों

की साधना करनी पड़ती है, उन्हीं को छांदोग्य उपनिषद में एक कथा के संदर्भ में बताया है।

घोर आंगीरस नाम के एक वैदिक ऋषि देवकी पुत्र कृष्ण को पंचविध यमों की साधना बताते हैं, तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन, इन पांच सद्गुणों की साधना वही कर सकता है, जो व्यावहारिक जीवन के विषय में तृष्णा-हीन हो गया है। ऐसे योग्य व्यक्ति को घोर आंगीरस कहते हैं कि अंतःकाल में ऐसे मनुष्यों को अपने को समझना चाहिए कि तू परब्रह्म है, याने अक्षय हैं, अविनाशी है और सूक्ष्मप्राण है।

मोक्ष साधना की यह विधि सब जानते हैं। इस कथा की ओर मेरा ध्यान इसलिए गया कि यहां पर घोर आंगीरस जैसे ऋषि के सामने हमारे श्रीकृष्ण एक शिष्य के जैसे रूप में प्रकट हुए हैं और उनकी सांसारिक प्यास बुझी हुई देखकर ही गुरु ने उनको ब्रह्म-साधना की दीक्षा दी है।

१० :: ॐ नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय

भगवान के नाम अनंत हैं, लेकिन भक्तों ने अपने आनंद के लिए दस, एक सौ आठ या हजार नाम इकट्ठा करके उनके स्तोत्र बनाकर गाया या जाप करना शुरू किया।

मैंने अपने ध्यान और जप के लिए दो नाम विशेष रूप से पसंद किये हैं—नारायण और पुरुषोत्तम।

इन शब्दों का धात्वर्थ देखकर, इन पर मैंने छोटे-छोटे प्रवचन लिखे होंगे, लेकिन आज फिर से कहने की इच्छा हुई है।

'नारायण' शब्द का अर्थ मैंने एक ढंग से किया है। मनु भगवान ने दूसरे व्यापक ढंग से। दोनों अच्छे हैं और सच्चे हैं। दोनों को मिलाना चाहिए। "नराणाम् समूहः = नारम्"। भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के समस्त नर-नारी के समूह को संस्कृत में 'नार' कहते हैं। नार याने सम्पूर्ण मानव-जाति। यह नार जिसका अयन याने 'रहने का स्थान' बन गया है, वह है नारायण (गॉड ऑफ ह्यूमेनिटी)।

अब मनुभगवान की व्युत्पत्ति समझाता हूं:

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश इन पंच महाभूतों की सृष्टि जिस मूल तत्त्व से बनी है, उसे संस्कृत में 'आप' अथवा 'अप्' कहते हैं। संस्कृत में 'आप' का मामूली अर्थ है पानी, लेकिन समस्त सृष्टि के मूल तत्त्व को भी आप या अप् कहते हैं। परमात्मा को नर कहते हैं। नर में से अप तत्त्व बना, इसलिए उसे नार कहने लगे। मनु भगवान समझाते हैं, "आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नर-सूनवः।" अप् शब्द यहां अनेक वचन में आया है। नर में से उत्पन्न मूल तत्त्व—नार—जिसका रहने का स्थान हुआ—वह है नारायण। 'ताः यद् अस्य अयनं जातम् इति नारायण स्मृतः।' (गॉड इज ऑफ दी यूनिवर्स)।

ये दोनों अर्थ एकत्र करके, हम नारायण का ध्यान करें और जाप भी करें।

दूसरा शब्द है पुरुषोत्तम। इसका अर्थ स्पष्ट है। संस्कृत में पुर् याने शरीर। 'पुरि शेते इति पुरुषः।' इस शरीर में सुप्त रूप

में जो रहता है, वह जीवात्मा पुरुष कहा जाता है। हम सब पुरुष हैं। पुरुष में जो सुप्त तत्त्व है, उसे जाग्रत करके, सर्व-गुण-संपन्न करने से वही उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम बनता है। पुरुष का भाव चढ़ाते-चढ़ाते जब हम ऊपर तक पहुंच जाते हैं तब वही पुरुषोत्तम बनता है (उत्, उत्तर, उत्तम)।

'नारायण' शब्द में समस्त मानव-जाति का विचार जाग्रत होता है और पुरुषोत्तम शब्द से मानवता के गुणोत्कर्ष का विचार केन्द्रित होता है, इसलिए ये दो नाम मैंने अपने ध्यान-भजन के लिए पसंद किये हैं।

'नारायण' शब्द की एक व्याख्या महाभारत से मिली है :

समः सर्वेषु भूतेषु, ईश्वरः सुखदुःखयोः।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः॥
(शान्तिपर्व ३५५, २७)

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। परमात्मा सब प्राणियों में—भूतों में समान है, सब के सुख-दुःख का वह ईश्वर (मालिक) है। महान होने से उसे 'महात्मा' कहते हैं। 'सर्वात्मा' भी कहते हैं। वेद के अनुसार वही नारायण है।

'ईश्वरः सुख दुःखयोः' इसका संक्षेप में भाव यह है :

सुख-दुःख का अनुभव सबको है। इन शब्दों का अर्थ संकुचित भी है और व्यापक भी है। इन्द्रियों को अनुकूल सो सुख, और इन्द्रियों को प्रतिकूल सो दुःख—यह है उनका संकुचित अर्थ।

लेकिन केवल इन्द्रियों के नहीं, किंतु सब तरह के आनंद को हम सुख कहते हैं। दुःख का भी ऐसा ही व्यापक अर्थ है।

यह सुख और दुःख प्राणियों को अथवा मनुष्यों को कहां, कब, कितना मिले, यह हमारे हाथ में नहीं है। इसका कोई नियम भी हम नहीं बना सकते। सुख-दुःख का सारा तंत्र भगवान के ही अधीन है। इसीलिए ऋषि ने कहा, "नारायणः सुखदुःखयोः ईश्वरः।" परमात्मा ही सुख-दुःख का ईश्वर याने मालिक है। उसी को 'नारायण' कहते हैं।

मनुष्य के सुख-दुःख उसके अधीन नहीं हैं, किन्तु सुख-दुःख का सदुपयोग कर लेना उसके हाथों में है। सुख और दुःख से मनुष्य अगर अपना अधःपात न होने दे, अपनी साधना के द्वारा दोनों का सदुपयोग करे, और उन्नति साध ले तो एक ढंग से (अर्थात् नम्र अर्थ में) वह भी सुख-दुःख का ईश्वर बन सकता है।

११ :: आत्मतत्त्व का साक्षात्कार और उसका फल

प्रवासियों को जब किसी नये देश का दर्शन होता है तब उस अद्भुत दर्शन से वह आनंद-विभोर हो जाता है। वैज्ञानिकों का भी यही अनुभव है। कुछ नया तत्त्व, कोई नया सिद्धान्त समझ में आता है अथवा पाया जाता है, तब उनके लिए वह एक महोत्सव-सा होता है। इसी तरह जब प्राचीन ऋषियों को तत्त्व-चिंतन करते-करते आत्मतत्त्व का आविष्कार हुआ होगा तब उनको भी कल्पनातीत आनंद हुआ होगा। बहुत-से शोध

अथवा आविष्कार इन्द्रियों के द्वारा होते हैं और बाद में बुद्धि उस चीज का ज्ञान विकसित करती है। आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय है। इन्द्रियों के द्वारा वह पाया नहीं जाता, पकड़ा नहीं जाता। वह बुद्धिग्राह्य है। बुद्धि ही उसकी कल्पना कर सकती है, उसे ग्रहण कर सकती है। (बुद्धिग्राह्यम् अतींद्रियम्), किन्तु आत्मतत्त्व का अनुभव अथवा साक्षात्कार बुद्धि की मदद से नहीं, किन्तु आत्मा के द्वारा ही हो सकता है। यह अनुभव जब सबसे पहले हुआ होगा तब ऋषि को कितना आनंद हुआ होगा ! पता नहीं, कितने घंटे या कितने दिन उसी आनंद की मस्ती में वह रहा होगा !

यही बात गीता ने (अ० ६—२०) में कही है—आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति। (आत्मा के द्वारा ही आत्मा को देखकर, पाकर वह आनंद पाता है।) वह आनंद भी आत्मा की मदद से उसे मिलता है, क्योंकि वह बाह्य आनंद नहीं, किन्तु आन्तरिक आनंद होता है। ('आत्मनि तुष्यति।')

आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ज्ञान प्राप्त करके उस अद्वैत का जो आनंद मिलता है, उसे आत्मयोग कहना चाहिए। आत्मयोग एक अद्भुत शक्ति भी है। इस शक्ति के द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे को (सिद्ध पुरुष साधक को) आत्मज्ञान करा सकता है। फिर तो गुरु शिष्य दोनों आत्मरति बन जाते हैं।

जब प्राचीन ऋषि जीवन के रहस्य को समझने की कोशिश करने लगे तब जगत की असंख्य चीजों को अपनाकर उनके द्वारा ज्ञान, सामर्थ्य और आनंद प्राप्त करने के लिए उन्हें इन्द्रियों की सहायता लेनी पड़ी। इसलिए उन्होंने अनुभव प्राप्त करने के

लिए साधनरूप इन्द्रियों को 'करण' कहा। कर्म करने के साधन को करण कहते हैं। जैसे किसान का हल है, बढ़ई के उसके उपकरण हैं, वैसे ही इन्द्रियां मनुष्य के करण हैं।

इन सब इन्द्रियों के बीच काम करके उनसे प्राप्त होनेवाले अनुभव को अपनाना, भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से मिलनेवाले ज्ञान के बीच समन्वय करके उनको एकरूप करना और सब अनुभवों का चिंतन करके उसकी गहराई में उतरना, यह सब व्यापार मन का है। इन्द्रियां अगर शरीर के औजार हैं तो इन सब औजारों के साथ सहयोग करनेवाला मन अंदरूनी औजार है। इसलिए उसे दार्शनिकों ने अंतःकरण कहा है। मन, बुद्धि, भावना, चित्त यह सब अंतःकरण ही हैं।

इन्द्रियों के द्वारा ज्ञानप्राप्ति की और चीजें बनाने के साधनरूप तरह-तरह के औजार मनुष्य ने बनाये। मनुष्य ही एक प्राणी है, जो अपनी इन्द्रियों की मदद के लिए औजार बना सकता है और काम में ला सकता है।

अंतःकरण द्वारा, बुद्धि और भावना के द्वारा, समस्त ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य अधिक सोचने लगा तब उसे आत्मतत्त्व की प्रथम कल्पना हुई। वह भी कोई मामूली बात नहीं थी। यह सोचना कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के अंदरूनी सहयोग के लिए एक सर्वसामान्य तत्त्व होना चाहिए और उसका स्वरूप इन सब बातों से भिन्न होना चाहिए, यह बहुत बड़ी बात थी। मनुष्य ने अपनी बुद्धि से सर्वप्रथम आत्मतत्त्व की कल्पना की होगी। बाद में उसे वह प्राप्त करने का रास्ता ढूंढ़ने लगा। उस रास्ते को हम मनन-चिंतन कह सकते हैं। उसी में उत्कटता आने पर वह ध्यान बनता है

और उसीका अंतिम स्वरूप है तदाकार बनने का। उसी को समाधि कहते हैं।

इन्द्रिय-शुद्धिरूपी तपस्या के द्वारा आत्मशुद्धि करने पर ध्यानशक्ति बढ़ती है। उस शक्ति के द्वारा ध्यान में उत्कटता आती है और फिर धीरे-धीरे मनुष्य को आत्मा का सुख याने आनंद मिलना शुरू होता है।

आत्मा सर्वत्र है। सब मनुष्यों में, सब तरह के लोगों में, तो है ही, लेकिन इतर प्राणियों में भी है। आत्मा का अनुभव होने पर सबके साथ हमारा आत्मिक ऐक्य हम अनुभव करने लगते हैं। कई लोग अच्छे होते हैं, कई लोग बुरे होते हैं। रोजमर्रा के व्यवहार में उनके साथ अलग-अगल ढंग से पेश आना पड़ता है। मनुष्य में गुण होते हैं। दोष होते हैं। कमजोरियां होती हैं। पवित्रता होती है। दुष्टता होती है। उसमें भी समय-समय पर परिवर्तन हो सकता है। सबके साथ हम एक तरह से पेश नहीं आ सकते। भलाई को हम प्रोत्साहन देते हैं, उसका अभिनंदन करते हैं। बुराई को कोसते हैं। बुरे आदमी को टालते हैं। यह सब चलेगा, लेकिन जिस किसी को आत्मा का साक्षात्कार हुआ है, वह सभी के साथ अपना एक अद्भुत, सार्वभौम, स्थायी आत्मीयता का अनुभव करता रहता है।

ऐसे लोगों की बुराई देखकर जहां पहले चिढ़ आती थी, उसके बारे में मन में द्वेष होता था, अब द्वेष नहीं होगा, किन्तु उत्कट दुःख होगा। करुणा जगेगी, उसके दोष अंत में जाकर मेरे ही दोष हैं, यह पहचानकर मैं अपने दोष दूर करने के लिए जैसे तरह-तरह की कोशिशें करूंगा, वैसे ही उस दुष्ट या पापी मनुष्य के दोष अगर मुझसे दूर हो सकते हैं तो उस दिशा

में मैं कुछ-न-कुछ करूंगा ही। हां, अगर मैं अच्छा साधक हूं तो अपने दोषों को गुण समझने की गलती नहीं करूंगा। कोई भोली बेवकूफ मां अपने बच्चों के प्रति प्रेम होने के कारण मोह में आती है और बच्चे के दोष भी गुण समझने लगती है। इसीलिए बच्चों के दोष वह बरदाश्त तो करती ही है।

मुझसे वैसा नहीं होगा। मुझमें मोह न होने से मैं अपने या दूसरों के दोष मोह के कारण बरदाश्त नहीं करूंगा। लेकिन धैर्य के साथ अपने और दूसरों के दोष दूर नहीं कर सका तो सहन करूंगा। और हो सके, इतने सुधार की जबरदस्त कोशिशें करूंगा। जिस तरह मैं अपने दोष देख और समझकर भी अपना त्याग नहीं करता, उसी तरह कोई दोषी दोषी है, इसीलिए उसका त्याग नहीं करूंगा। अगर करना ही पड़े तो वह भी लाचारी के कारण, अथवा मदद के रूप में उस आदमी को सुधारने के लिए, उसका त्याग करूंगा, न कि द्वेष से या क्रोध से या तिरस्कार से।

उपनिषद कहता है कि आत्मतत्त्व हरएक में है, यह पहचानने के बाद सब प्राणी मेरे आत्मीय बनते हैं। सब भूतों को अपने में और अपने को सब भूतों में देखने पर अपने में जुगुप्सा नहीं रहती। जुगुप्सा का अर्थ है तिरस्कार। (अलग करने की और अलग बनने की इच्छा) ऐसी इच्छा खड़ी न होगी जब मेरे हृदय में विश्वात्मैक्यभाव (सबके प्रति पूरी आत्मीयता) सिद्ध हुआ होगा। उपनिषद् कहता है, 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।'

वैज्ञानिक लोग कोई महत्त्व का शोध होने पर बड़ा उत्सव करते हैं, क्योंकि उससे मनुष्य-जाति की बहुत बड़ी प्रगति

होगी। यह हो गई भौतिक विज्ञान की बात। लेकिन जब आध्यात्मिक विज्ञान में ऋषियों को आत्म-तत्त्व का सबसे प्रथम आविष्कार हुआ तब इससे बढ़कर मानवता के हित के लिए अधिक श्रेष्ठ कोई आविष्कार है नहीं। इतना सार्वभौम आविष्कार होते ही ऋषियों के आनंद का पार नहीं रहा होगा। उन्होंने कितना बड़ा उत्सव किया होगा।

आज हम आत्मा शब्द से चिरपरिचित हो गये हैं। हमारे लिए उसमें नवीनता नहीं है। लेकिन जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब तो लोकोत्तर आनंद होता ही है और जीवन में स्थायी परिवर्तन भी होता है।

दुनियवी व्यवहार में आत्मीयजनों को हम प्यार करते हैं, अच्छी-अच्छी चीजें उसको भेंट में देते हैं, उनकी स्तुति करते हैं। अगर हमारा अधिकार है तो हम उन्हें अच्छी उपाधि देंगे। जमीन या धन देंगे, उच्च पद देंगे और संकट से बचायेंगे।

लेकिन दो आत्मज्ञानियों में मैत्री का सम्बन्ध हो, साथी का हो अथवा गुरु-शिष्य का हो, वह तो आत्मीय संबंध ही रहा।

जैसा मेरे शरीर के साथ मेरा आत्मीयता का संबंध है, इसलिए मैं उसे खिलाता हूं, पिलाता हूं, जरूरत पड़ने पर भूखा रखता हूं, दवाइयां देता हूं, उसी तरह आत्मोत्सर्ग याने बलिदान करने का मौका आने पर उसी उत्कट आत्मीयता के कारण शरीर का बलिदान भी देता हूं और बलिदान देते कभी मन में यह भाव नहीं आता कि शरीर के प्रति मैं कठोर हुआ हूं। स्वार्थवश होकर, कठोर होकर, शरीर का नाश होने दे रहा हूं। हम अपने मन से कहते हैं कि शरीर, मन, प्राण और आत्मा सब एक ही है। बलिदान में ही शरीर की कृतार्थता है और

इसी में मेरी और मेरे शरीर की आत्मीयता, अद्वैतता सिद्ध होती है।

उसी तरह का एक प्रसंग आज याद आता है।

हम आश्रमवासी, गांधीजी के साथ रहने वाले, सब-के-सब सेवाभाव से एकत्र हुए। हमारी परस्पर आत्मीयता सर्वमान्य थी ही।

तो भी जिन लोगों की साधना उत्कट थी, जो लोग आश्रम-जीवन के आदर्श को पूर्ण रूप से समझने की और अमल में लाने की कोशिशें नित्य करते थे, उनमें आत्मीयता विशेष रूप से व्यक्त होती ही थी। एक बार कहीं दंगा हुआ था और बढ़ने की संभावना थी। गांधीजी से हो सकता तो स्वयं वे वहां जाते। उनका स्वभाव ही वैसा था, लेकिन परिस्थितिवश वे वैसा नहीं कर सके थे। उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, फ़लाने जगह पर जाकर लोगों को समझाना है। फिर भी अगर दंगा चालू रहा तो वहां अपना बलिदान देना है। आज की हालत में ज्यादा संभव यह है कि दंगा टल नहीं सकेगा। तब तो अपना बलिदान देना अपरिहार्य है। मैं स्वयं ही जाता, लेकिन वह शक्य नहीं है। इसलिए तुम्हें भेजता हूं। मुझे विश्वास है कि आश्रमधर्म के अनुसार ही तुम वहां पेश आओगे। इसलिए तुम्हें भेजते मुझे संकोच नहीं है।"

बस इतनी ही बात हुई। मैं स्थान पर पहुंच गया। यह कहने की जरूरत नहीं कि मुझे अपना बलिदान देने की नौबत नहीं आयी।

लेकिन उस दिन की मेरी धन्यता की क्या कहूं ? पूज्य बापूजी ने मुझे अपनी जगह भेज दिया और इस तरह मेरे साथ की

जो आत्मीयता थी, उसका सबूत दे दिया. इससे अधिक क्या चाहिए ? पूज्य बापूजी से मैंने अनेक चीजें पायी हैं, लेकिन उस दिन गांधीजी की आत्मीयता का जो अनुभव मुझे मिला, वह तो धन्यता की भी परमावधि थी ।

और दीक्षा तो थी ही ।

१२ :: उत्तम आत्म-साधना

हमारी भाषाओं में 'आत्मा' शब्द के दो भिन्न अर्थ होते हैं । परमात्मा के अंशस्वरूप हरएक व्यक्ति में जो सर्वश्रेष्ठ तत्त्व रहता है, उसे तो आत्मा कहते ही हैं और सामान्य तौर पर हर-एक के व्यक्तित्व के लिए, अपनेपन के लिए, भी आत्मा शब्द का व्यवहार होता है । कोई आदमी अपनी ही स्तुति करे तो उस दोष को कहते हैं 'आत्मश्लाघा' और कोई व्यक्ति वेदान्त-साधना के लिए अंतर्मुख होकर अपने जीवन के सर्वोच्च और सर्वव्यापी तत्त्व का चितन करे तो उसको कहते हैं 'आत्मचिंतन'। 'आत्म-श्लाघा' और 'आत्म-चिंतन' दो शब्दों में आत्मा के अर्थ बिल्कुल भिन्न होते हैं । अब एक तीसरा शब्द हम लें, आत्मोन्नति । इसमें हरएक व्यक्ति की अपनी शक्ति बढ़े, अपना प्रभाव बढ़े, इसके लिए अगर प्रयत्न करे तो उसको भी हम आत्मोन्नति कहते हैं, और मन, बुद्धि और भावना आदि पर विजय पाकर, तपस्या के द्वारा अपने जीवन पर अगर कोई शुद्ध आत्मा का प्रभाव डाले तो उसे भी आत्मोन्नति कहते हैं ।

वेदान्त की अंतिम साधना में हम क्या चाहते हैं ? उस साधना में हम आत्मा-परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का चिंतन करके आत्म-शक्ति बढ़ाकर परमात्मा तक पहुंचने की साधना करें तो उसे आत्म-साधना कह सकते हैं ।

भले-बुरे हर तरह के व्यक्ति समाज में रहते हैं । वे अपने शरीर को, मन को और भावना को सुख देना चाहते हैं । मनुष्य समाज-सेवा करे, परोपकार करे, स्वार्थत्याग करे तो भी सामान्य व्यक्ति का अंतिम हेतु आत्मसंतोष का ही होता है। आत्म-सुख, आत्म-संतोष, आत्म-प्रतिष्ठा के लिए ही हरएक व्यक्ति जीवित रहता है और कार्य करता है। परोपकार, समाज-सेवा, प्रेम, त्याग आदि सुंदर तत्वों के पीछे भी सामान्यतया अपने को ही केन्द्र में रखकर उसी की प्रतिष्ठा बढ़े, उसी को संतोष मिले और सुख प्राप्त हो, यही होता है अंतिम उद्देश्य । मनुष्य कहता है कि मैं प्रेम के लिए जी रहा हूं । बात सही भी होती है, लेकिन मनुष्य कभी प्रेम करता है, कभी द्वेष करता है, कभी बिगड़ बैठता है । हर समय अपने को ही केन्द्र में रखकर उसी का सुख और उसी की प्रतिष्ठा, यह मुख्य प्रेरणा होती है ।

जो व्यक्ति इस अंतिम आत्म-भक्ति पर विजय पाने के लिए साधना करता है, उसी की सच्ची मोक्ष-साधना है । मोक्ष में स्वार्थत्याग प्राथमिक वस्तु है। परोपकार, इन्द्रिय-संयम, तपस्या इन सबके पीछे जब 'अपने व्यक्तित्व को मारकर, उसे शून्य बनाने की तैयारी' होती है तभी वह सच्ची मोक्ष-साधना है। अपने को नष्ट करके तपस्या द्वारा इन्द्रिय-सुख पर जब मनुष्य विजय पाता है और 'पक्षपात-रहित सर्व को' अपने प्रेम का अंतिम लक्ष्य बनाकर अपने को पूर्ण रूप से मानो मार

डालता है, तभी वह उसकी सच्ची मोक्ष-साधना है। उसके द्वारा ही (परमात्मा के साथ जिसका अंतिम अभेद है) ऐसे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसी साधना को विभिन्न शब्दों में हम व्यक्त कर सकते हैं।

"जब हम आत्मा को पूर्ण रूप से मार डालते हैं तभी पूर्णरूप से आत्मा की सच्ची प्राप्ति होती है।"

ऐसी साधना करनेवाले लोगों को देखकर उनकी सेवा और उनकी भक्ति करने से, आत्म-साधना का सच्चा स्वरूप ध्यान में आता है। इसीलिए कहा है कि अत्यंत आदर के साथ सत्-पुरुष की सेवा करने के लिए आत्म-विलोपन की आदत रखनी चाहिए। निष्काम अनन्यसेवा ही उत्तम आत्म-साधना है।

१३ :: सर्वव्यापी प्रभु का सतत स्मरण

कहां भगवान और कहां हम ? एक ओर कल्पनातीत विश्व के निर्माता, विश्वस्वामी, सर्वसमर्थ, भगवान, और दूसरी ओर हम ! हम तो उनकी कृति हैं, इस विश्व के एक कण के भी छोटे कण के बराबर नहीं। अपने को भगवान के दास कहना भी हास्यास्पद होगा। कोई छोटा कृमि-कीटक अपने को मनुष्य का दास कहे, नौकर कहे तो जैसा हास्यास्पद होगा, वैसा ही हम अपने को भगवान का दास कहें तो हास्यास्पद होगा। हमारे रक्त में जो लाल और सफेद कॉरपसकल् होते हैं, उन्हें हम अपनी आंखों से देख भी नहीं सकते। भगवान के सामने हमारी ऐसी ही तुच्छ-

तम् स्थिति है।

तो भी हम जानते हैं कि हम केवल शरीर नहीं हैं। शरीर से काम लेनेवाला आत्मा है और हमारा जीवात्मा चाहे जितना अल्पतम क्यों न हो, परमात्मा का ही वह एक अंश है। दोनों में तात्त्विक अंतर नहीं है।

इसीलिए हम कभी-कभी अपने को भगवान का दास कहते हैं, भगवान की कृति कहते हैं। ज्यादातर अपने को भगवान का अंश ही कहते हैं। लेकिन अद्वैत सिद्धान्त का साक्षात्कार होने पर हमसे रहा नहीं जाता। हम बोल उठते हैं, "अहं ब्रह्मास्मि।"

इस तरह भिन्न-भिन्न दृष्टि के अनुसार हम भले, भिन्न-भिन्न ढंग से, भगवान का चिंतन करें, किन्तु भगवान को भूलना (जो पाप हम नित्य करते रहते हैं) हमारे लिए सबसे बड़ा अधः-पात है।

हम अपना जीवन जीते जायें, उसके विकास की साधना असंख्य जन्म करते चलें, किन्तु भगवान को हम कभी भूलें नहीं। उसका चिंतन अखण्ड चलता रहे। वह चिंतन दास के रूप में हो, अंश के रूप में हो अथवा अद्वैत के रूप में हो, चलना अखंड चाहिए।

हम न मानें कि दास कहने से हम पूरे-पूरे नम्र हो गये। तब भगवान के साथ के हमारे ऐक्य की बात हम कहें तो उसमें अभिमान कहां आयेगा? दास कहने में पूरी नम्रता नहीं आती और 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने में अहंकार, अभिमान को अवकाश नहीं है। संबंध कैसा भी हो, कैसा भी मानें, भगवान को हम भूलें नहीं। किसी भी रूप में हो, हम उसे नमस्कार करते जायें।

हम रहते हैं इस विश्व के एक कण के जैसी हमारी पृथ्वी

पर। हमारी पृथ्वी सूर्य की अनुचर है। हमें अपने अन्न से लेकर ज्ञान के साक्षात्कार तक सबकुछ सूर्य से मिलता है। हमारे छोटे से जीवन में सूर्य का प्रतिनिधि है अग्नि। इसलिए ऋषियों ने अग्नि से प्रारंभ करके अपने जीवन के सब तत्त्वों के द्वारा भगवान की स्मृति और नति चलायी है।

यह है ऋषियों का दिया हुआ प्रार्थना मंत्र :

यो देवोऽ (अ) ग्नौ योऽ (अ) प्सु, यो विश्वं भुवनं आविवेश।

य ओषधिषु, यो वनस्पतिषु, तस्मै देवाय नमो नमः॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद २।१६)

जो भगवान अग्नि में, जो पानी में, जो इस सारे विशाल अनंत भुवन में, व्याप्त हैं, जो भगवान छोटी-छोटी घास आदि ओषधियों में, और छोटी-बड़ी वनस्पतियों में व्याप्त दीख पड़ते हैं, उन भगवान को हम पूर्ण हृदय से बार-बार नमस्कार करते हैं।

१४ :: प्राणी और वनस्पति-सृष्टि के समन्वयकारी ऋषि गृत्समद

हमारे जीवन-चिंतन में 'प्राण' शब्द अत्यंत महत्त्व का है। प्राण-शक्ति शरीर में पांच जगह पर काम करती है। इन पांच प्रकारों को 'पंचप्राण' कहते हैं।

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, ये पंच प्राण हैं। प्राण हृदय में काम करता है। अपान शौच के गुदाद्वार में काम

करता है । समान नाभिमंडल में है । उदान कंठ-प्रदेश में बोलने में मदद करता है और व्यान सारे शरीर में फैला हुआ रहता है।

इस वक्त हम प्राण और अपान दोनों का ही विचार करते हैं। हमारे आसपास सर्वत्र हवा फैली हुई है। हम जब सांस लेते हैं, तब हवा में से प्राणवायु पेट में लेते हैं, उसमें ऑक्सीजन की प्रधानता होती है । पेट में से जो हवा बाहर छोड़ते हैं, उसे अपान कहते हैं । उसमें कार्बन डायोक्साइड होता है ।

प्राणियों के लिए प्राण जीवनपोषक होता है। अपान जीवन-नाशक होता है ।

विश्वस्वामी ने सृष्टि की रचना ही ऐसी की है कि हमारे आसपास जो वनस्पति है, इसके लिए अपान वायु पोषक है । हम जो अपान वायु छोड़ते हैं, वह वनस्पति खा जाती है और वह जो छोड़ देती है, वह है प्राणवायु ऑक्सीजन । इस तरह प्राणी और वनस्पति परस्पर सहायक हैं। इस तरह प्राण और अपान मिलकर विशाल सृष्टि को चलाते हैं ।

वेदकाल के ऋषियों में से एक खानदान ऐसा निकला, जिसने प्राण और अपान दोनों का अध्ययन चलाया होगा । उस सारे खानदान को उसके मुख्य ऋषि का नाम मिला गृत्समद । 'गृत्समद' शब्द में गृत्स का अर्थ है प्राण और मद का अर्थ है अपान ।

यह गृत्समद-खानदान प्राण और अपान दोनों वायुओं का अध्ययन करते होंगे और दोनों परस्पर सहयोगी हैं, यह देखकर सारे समाज को यह सुंदर सृष्टि-व्यवस्था समझाते होंगे, ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं। इस गृत्समद-ऋषि की जीवनकथा

हम सुन लें। बड़े महत्त्व की है। आज हम जातिभेद तोड़कर भिन्न जातियों के बीच और वर्णों के बीच विवाह पसंद करने की बात समाज को समझाते हैं। इस प्रवृत्ति के लिए भी गृत्समद ऋषि का जीवन अच्छी तरह से प्रेरक और पोषक है।

गृत्समद अंगिरस कुल के थे। बाद में भार्गव हो गये। देखने में गृत्समद इंद्र के जैसे दीख पड़ते थे। उनको बार-बार कहना पड़ा कि मैं इंद्र नहीं हूं, इंद्र का भक्त हूं।

कहा जाता है कि इनके पिता रुक्मांगद कहीं बाहर गये थे और उनकी पत्नी मुकुंदा पर इंद्र स्वयं मुग्ध हो गये। इंद्र ने रुक्मांगद का रूप धारण किया। इन दोनों के सहयोग से गृत्समद पैदा हुए। आगे जाकर गृत्समद बड़े विद्वान और तपस्वी बने। इन्होंने गणपति की उपासना की और उनको ब्राह्मण्य गणपति से ही मिला। "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" यह मंत्र गृत्समद ने ही हमें दिया है, जो आज हम बोलते हैं।

इन पौराणिक कथाओं में कुछ गड़बड़ी रहती थी। शायद गृत्समद नाम के दो अलग-अलग पुरुष होंगे। ऋग्वेद के दस मंडलों में से दूसरा मंडल गृत्समद का अथवा उनके खानदान का है। ऋग्वेद के दस मंडलों के मंत्र सवा दस हजार या साढ़े दस हजार हैं। इनमें से दूसरे मंडल के मंत्र ४२९ हैं। ये ऋषि विदर्भ के रहनेवाले थे। उन्होंने वहां कपास की खेती करायी और धागा बनाकर कपड़ा बुनने की कला का भी विकास कराया। श्री विनोबा का कहना है कि गृत्समद गणित का पंडित था। कृषि और बुनाई दोनों कला में प्रवीण था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो था ही। अपने ही श्रम पर जीने का उसका आग्रह था। वेद-

काल के श्रेष्ठ दस-बीस ऋषियों में भी गृत्समद का स्थान ऊंचा था।

१५ :: सर्वोच्च साधना

"हृदयेन हि सत्यम् जानाति।"

सचमुच मनुष्य सत्य को जानता है, पहचानता है, हृदय के द्वारा।

हृदय के मानी हैं भावना। भावना का विकास, भावना का असर, सबसे पहले सीने के अंदर लहू का जो खजाना होता है, उसपर प्रतीत होता है। इसलिए लोग मानते हैं कि भावना का उद्गम वहीं से है, जहां से विचार और बुद्धि का व्यापार चलता है, यानी मस्तिष्क में; लेकिन चूँकि भावना का असर सीने पर होता है, इसीलिए उसी का नाम लिया जाता है।

ऋषि का कहना है कि सत्य का ज्ञान बुद्धि के द्वारा नहीं होता, बल्कि भावना के द्वारा होता है।

जब कोई विज्ञान-शास्त्री प्रयोगशाला में बैठकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रयोग करता है, तब उसे बुद्धि के द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। वह ज्ञान केवल जानकारी है।

सत्य उससे बढ़-चढ़कर है। सत्य है जीवन का रहस्य। उसकी प्राप्ति हृदय के विकास के बिना, भावना की शुद्धि और उत्कटता के बिना, हो नहीं सकती।

लोग भावना का स्वरूप सोचते नहीं। भावना और वासना का भेद ध्यान में नहीं लेते। जब कोई मित्र अपने दोस्त से कहता

है, "भावनावश होकर बातें मत करो," तब सचमुच उसका कहना होता है, "वासनावश होकर बातें मत करो।"

जब इंद्रियां अपने विषय की ओर दौड़ती हैं और मनुष्य उन्हीं प्रेरणा के वश होता है तब उसको न विशुद्ध ज्ञान होता है, न उसका निर्णय शुद्ध रहता है।

अहं और मम की एकांगिता जब मनुष्य पर सवार होती है तब भी उसे शुद्ध ज्ञान नहीं होता। जब मनुष्य अपने विचार में अपने को ही केंद्र में रखता है, अपनी लाभ-हानि, अपना स्वार्थ, अपनी प्रतिष्ठा को ही प्रधानता देता है, तब उसके अनुमान शुद्ध नहीं होते। यह भी वासनावशता ही है।

जब ज्योतिषी मानते थे कि पृथ्वी के इर्दगिर्द सूरज घूमता है तब उनका गणित और उनके अनुमान सब गलत होते थे। जब उन्होंने पाया कि सूरज ही केंद्र है, जिसके इर्दगिर्द पृथ्वी आदि सब ग्रह घूमते हैं तब सारा ज्योतिषशास्त्र सही और सरल हो गया। वाल्ट विटमैन कवि के बारे में किसी ने जो कुछ कहा है, उसे तो जाने दीजिये, एक मिशनरी ने कहा कि पृथ्वी ही इस विश्व का केंद्र हो सकती है। इसका कारण उसने बताया कि भगवान का पुत्र ईसामसीह का जन्म जहां हुआ, वही भूगोल विश्व का केंद्र हो सकता है। उसी तरह से सोचनेवाले को लोग कहते हैं कि वह भावनावश होकर सोच रहा है। सच देखा जाय तो यह भावनावशता नहीं है, यह है वासनावशता या अहंकार-मूलक एकांगिता।

भावना तो जीवन का सार-सर्वस्व है। भावना का रूप समझना चाहिए।

विश्वात्मैक्य, सत्यनिष्ठा, आत्मपरायणता, श्रद्धा, मांगल्य

के ऊपर विश्वास, अमृत-तत्वों के ऊपर विश्वास, ये सब भावना के प्रकार हैं। इन्हीं के द्वारा जीवन का रहस्य पाया जाता है। इसलिए ऋषि कहते हैं, "हृदयेन हि सत्यम् जानाति।" आगे जाकर ऋषि कहते हैं, "हृदय ही आत्मा है, हृदय परब्रह्म है।"

इसीलिए मनुष्य को चाहिए कि जीवन द्वारा वह हृदय-सिद्धि के लिए कोशिश करे। यही सर्वोच्च साधना है।

१६ :: भूमा का साक्षात्कार

यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति।
यो वै भूमा तत् अमृतं, अथ यत् अल्पं तद् मर्त्यम्।
(छन्दोग्य ७, २३)

सर्व, विराट्, विशाल, भूमा, ब्रह्म, अमृत, अनन्त, विभु, सनातन (सदातन), ये सब संस्कृत भाषा के प्रिय शब्द है। इनके अर्थ का ध्यान करते भारतीय मानस मस्त हो जाता है। आदमी कैसा भी क्यों न हो, इन शब्दों का नाम लेकर जब उसको आह्वान किया जाता है, पाचारण किया जाता है, इनकी प्रेरणा जब उनको मिलती है, तब वह उनको इन्कार नहीं कर सकता।

जो भूमा है, सर्वव्यापी है, सर्वग्राही है, वही सुख है; उसमें अमरता है। जो अल्प है, वह तुच्छ है, उसमें सुख नहीं। वह क्षणजीवी मृत्यु से घिरा हुआ है। जो भूमा है, वह अपनी ही

प्रतिष्ठा में स्थित है, स्थिर है।

जब हम संकुचित भाव छोड़ने को कहते हैं, तब भारतीय मनुष्य माने या न माने, लेकिन उसका हृदय कहता है कि यह अपील सही है, उसके मानने से हमारा कल्याण ही होगा। यही कारण है कि विविधता को हर तरह का प्रश्रय देते हुए भी हम एकता को भूल नहीं सकते। हमने एकता में ही सुरक्षितता देखी है। जहां दो आये, वहीं झगड़ा जरूर होगा, वहां भय पैदा होगा। इसलिए भेद को मिटा दो, कम-से-कम उसे गौण करो। भेद में भी अभेद के तत्व ढूंढ़ लो और उसी को महत्त्व दो। यह है भारतीय हृदय की सीख।

चिरन्तन काल तक ध्यान करते भारतीय बुद्धि और हृदय ने पाया कि भेद के जो भी तत्व हैं, सब छिछले हैं, अल्पजीवी हैं और परम कल्याण की दृष्टि से सोचते निःसार हैं। उनकी संख्या भी, सोचा जाये तो, बहुत कम है। इसके विपरीत जो अभेद के तत्व हैं. वे हैं गहरे, सुगंभीर, दीर्घजीवी या स्थायी। वे हैं भी विपुल और सारपूर्ण। इसलिए भेद को समझना है, उन्हें गौण करने के लिए, उनपर विजय पाने के लिए और अभय की छत्रछाया में उनमें परस्पर अविरोधी व्यवस्था स्थापित करने के लिए। हमारे हृदय की निष्ठा तो अभेद को ही मिलेगी, उसी की स्थापना हम सर्वत्र करेंगे। उसी से हम कृतार्थ होंगे। जहां भेद है, वहां विग्रह है। जहां अभेद आया, वहां शांति, सुख और प्रगति का वायुमंडल पैदा हो गया।

इस अभेद के द्वारा हम धीरे-धीरे भूमा का साक्षात्कार कर लेते हैं। वही है परम कल्याण, वही है सच्चा सुख और वही है परम आनंद।

हमारी व्यक्तिगत हो या सामाजिक हो, हर तरह की साधना में हम इसी कसौटी को लेकर चलें कि क्या हम अल्प की ओर जा रहे हैं या भूमा की ओर, और अगर भूमा की ओर ही जा रहे हैं तो क्या हमने अपनी साधना का मार्ग दृढ़ बनाया है या उसे पोला रहने दिया है? हमारा आकाश भी पोला नहीं है। वह है भूमा, वह है ब्रह्म। 'ब्रह्म' याने सबसे बड़ा, बृहत्तम—जो सबसे बड़ा है, सनातन, विभु है, सर्वसमर्थ है और नित्य-तृप्त है। उसीकी उपासना करनी है, उसीसे शांति मिलेगी और उसी के द्वारा हम शांति प्रदान भी कर सकेंगे। सचमुच जो अल्प है, उसमें सुख नहीं। वह मर्त्य है। जो भूमा है, वही सुख है, वही अमृत है।

१७ :: प्राणोपासना

"जीवापेतम् वाव किलेदम् म्रियते, न जीवो म्रियते।"

(छन्दोग्य ६-११-३)

जब जीव यानी प्राणी इस शरीर को छोड़ देता है, तब शरीर मरता है, जीव नहीं मरता।

प्राण और जीव भी एक नहीं हैं। सांस लेनेवाला प्राणी या सत्व प्राण के द्वारा जीते हैं। ऐसे भी सत्व हैं, जिनको जीने के लिए प्राण की जरूरत नहीं है। जीव का अनुवाद अंग्रेजी में 'लाइफ' से होगा। यह जीव जीना और मरना दोनों मिलाकर जो सातत्य है, उसका बोधक है। मरने से जीव का न अन्त होता

है, न नाश।

आजकल के ज्योतर्विद कहते हैं कि चंद्र के ऊपर जीवन नहीं है। बुध के ऊपर भी नहीं है, क्योंकि दोनों के ऊपर वायुमंडल नहीं है। वायुमंडल अपने इर्दगिर्द खींचकर रखने की शक्ति उन दोनों गोलों में नहीं है। अगर इन दोनों के यहां हमने यहां से कुछ वातावरण भेज भी दिया तो वह वहां टिकेगा नहीं, उड़ जायेगा, क्योंकि ये दोनों गोले इतने छोटे हैं कि उनका आकर्षण (ग्रेवीटेशन) वायुमंडल को पकड़ रखने में समर्थ नहीं है। जहां पर वायुमंडल है और कुछ पानी है और आवश्यक उष्णता भी है, वहीं पर जीवन संभव है। इस वास्ते सूर्य और चंद्र दोनों पर जीवोत्पत्ति हो नहीं सकती, ऐसा ज्योतिर्विदों का कहना है। इनमें से जो सूक्ष्म बुद्धिवाले हैं, वे कहते हैं,"जीवन, जैसा कि हम जानते हैं, सूर्य या चंद्रमा पर संभव नहीं है।"

सच बात यह है कि जीवन या जीव के अनेक प्रकार हैं। सूर्य के ऊपर प्रचंड उष्णता है। हम बरदाश्त कर सकते हैं, उससे लाख गुनी होगी। लेकिन इतनी उष्णता ही कम-से-कम जिसे चाहिए, ऐसा जीवन सूर्य पर हो सकता है। उसका रूप भिन्न-भिन्न होगा, लेकिन वह चैतन्य की ही एक विभूति होगी।

जीव की व्याख्या हमारे लोगों ने की है—अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, मृयते। ये छः गुण जीव में पाये जाते हैं। जो होता है, जन्मता है, बढ़ता है, बदलता है, क्षीण होता है और मरता है, वह है जीव। इसमें मरने की बात सचमुच शरीर के लिए है, जीव के लिए नहीं है, उपनिषद् के ऋषि ने यही बताया है। जीव ने शरीर में रहना स्वीकार किया तो जन्म लेना, बढ़ना, क्षीण होना, मरना, ये झंझट उसके पीछे लग

जाते हैं। इसे चाहे उसका झंझट कहें या विशेष शक्ति कहें, अस्ति यानी 'सतत होना' के साथ ही सोचना चाहिए।

जहां-जहां चैतन्य प्रकट होता है, वहां जीव अपना कार्य करने लगता है और शरीर धारण करके सब तरह के अनुभव लेता है। शरीर के धर्म अलग और चैतन्य के धर्म अलग, इन दोनों का साथ रहना मुश्किल है, तो भी साथ रहने का प्रयोग अखंड चलता ही है।

आत्मा इस जीव से भी सूक्ष्म है। किसी मनुष्य के मरने पर हम कहते हैं कि उसका प्राण निकल गया, जीव ने उसके शरीर को छोड़ा; पर हम यह नहीं कह सकते कि उस मृत शरीर में आत्मा नहीं है। आत्मा विभु है, सदा-सर्वत्र है ही। आत्मा चैतन्य नहीं है, ऐसा हम नहीं कह सकते; लेकिन प्राण के अभाव में वह व्यक्त नहीं हो सकता।

अगर इस दृष्टि से सोचा जाये तो आत्मा को पहचानना ही हमारा कर्तव्य रह जाता है। आत्म-प्राप्ति की साधना के कोई माने नहीं रहते। जो आत्मा सर्वत्र-सर्वदा है ही, उसकी प्राप्ति के कोई मानी ही नहीं। अगर कोई साधना करनी है, उपासना करनी है तो वह है प्राण की। इसलिए उपनिषद् के ऋषियों ने प्राणोपासना का बड़ा महत्त्व बताया है। प्राणोपासना सिद्ध होने पर जो सर्वत्र-सर्वदा है ही, उस आत्मा का साक्षात्कार होता है। आत्मा का साक्षात्कार करना, उसका सतत स्मरण रखना, उसी को साररूप समझना, यही है हमारा कर्तव्य।

लेकिन हमारा धर्म है जीव को, 'लाइफ' को पहचानना और उसके स्वभाव के अनुरूप हो जाना।

जितने भी धर्म हैं, संस्कृतियां हैं, वे सब जीव के विकास के

लिए हैं। जीव एक कहें या अनेक, सर्वत्र हैं और उनमें एकता है। उनका सातत्य अखंड, अबाधित है। जीव के परिचय के द्वारा विश्वात्मैक्य का अनुभव करना, यही है परमपुरुषार्थ। जीव-जीव के बीच जो आत्मीयता है, उसे पहचानना और उस आत्मीयता के साथ वफादारी या निष्ठा कायम रखना, यही है धर्म का स्वरूप।

सब जीवों के साथ हमारा ऐक्य स्थापित होने पर स्वार्थ, अभिमान, मत्सर, क्रोध आदि सब विकार आप-ही आप नष्ट हो जाते हैं। 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः द्वितीयात् वै भयं भवति।' जहां एकता का अनुभव किया, वहां सिर्फ प्रेमानन्द ही रहता है, उसी को आत्मानंद भी कहते हैं। उसे प्राप्त करना, यही है जीवन-साधना। निष्काम सेवा और बलिदान से ही यह साधना सिद्ध होती है।

१८ : : धर्म

"धर्मात् परम् नास्ति, अतो अवलीयान् बलीयांसम् आशंसते धर्मेण यथा राज्ञा।"

(वृहद् आरण्यक १-४-१४)

धर्म से बढ़कर या श्रेष्ठ कोई तत्त्व नहीं है। धर्म के द्वारा कमजोर भी बलवान को काबू में रखता है, जैसे कि राजा।

यहां पर ऋषि कहते हैं, जो सत्य है, वही धर्म है। जो धर्म है, वही सत्य है।

मुझसे एक बार पूछा गया कि एशिया की संस्कृति की बुनियाद क्या है ? मैंने निःशंक होकर जवाब दिया, "धर्म ।" हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म आदि अनेक धर्मों की जो बात चलती है, उसका जिक्र मैंने नहीं किया था। ये धर्म आपस में लड़ते भी हैं। इनके सिद्धान्तों में परस्पर विरोध भी है। इस्लाम ईश्वर को मानता है, जोरों से मानता है। ईश्वर को जो नहीं मानते हैं, उनके साथ उसका झगड़ा है। लोकारूढ़ इस्लाम मानता है कि ईश्वर और मनुष्य के बीच किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। इस्लाम का रहस्य जिसमें पाया जाता है, वह सूफी मत अलग है, उसका जिक्र यहां नहीं कर कर रहे हैं। इस्लाम कहता है कि ईश्वर शादी नहीं करता, इसलिए न वह किसी का पिता है, न उसका कोई पुत्र है।

ईसाई कहते हैं कि ईसामसीह ईश्वर का पुत्र है।

जैन धर्म ईश्वर को नहीं मानता, लेकिन आत्मा के अस्तित्व में उसका विश्वास है। आत्मा अनेक हैं, और उनकी संख्या परिमित है, ऐसा भी कहा जाता है।

बौद्ध धर्म न ईश्वर को मानता है, न आत्मा को। बौद्धों का कहना है कि आत्मा कोई चीज नहीं है, एक धर्म मात्र है।

और हिन्दू धर्म में क्या-क्या माना जाता है और क्या-क्या नहीं माना जाता है, उसका पता चलाना आसान नहीं है। हम कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक ही है। हम कहते हैं कि सब प्राणी ईश्वर के पुत्र-पुत्रियां हैं। हम कहते हैं कि ये सब ईश्वर के अंश हैं। हम कहते हैं ईश्वर एक है, किन्तु उसकी विभूतियां अनंत हैं। हम मानते हैं कि जन्म-परम्परा अखंड चलती है। जन्म के बाद मृत्यु, मृत्यु के बाद जन्म, ऐसा तांता चलता

ही है। हम मानते हैं कि पशु भी मनुष्य का जन्म ले सकते हैं और मनुष्य पशु का। पशु माने मनुष्येतर सब प्राणी।

स्वर्ग-नरक की कल्पना धर्मों में है, लेकिन उसमें भी एकता नहीं है।

ऐसी अनवस्था होते हुए भी इन सब धर्मों में एक आध्यात्मिक कानून पर विश्वास पाया जाता है। इस कानून को धर्म या 'धम्म' कहते हैं। अगर आत्मा है तो उसका कर्म और उसका स्वभाव धर्म है। अगर आत्मा नहीं है और केवल संस्कार-ही-संस्कार जीवन का सत्य है तो वह संस्कार भी किसी एक कानून के वश रहते हैं। ऐसा जो सर्वश्रेष्ठ, सार्वभौम कानून है, उसी को कहते हैं धर्म। ईसाइयों का ईसाई धर्म, मुसलमानों का इस्लाम, यहूदियों का करार, सब कोई इस सनातन, सार्वभौम कानून को मानते हैं और उसकी सर्वोपरिता, सार्वभौम अधिकार मानते हैं। बौद्धों का धर्म वही है और हिंदुओं का दशविध धर्म भी वही है।

आजकल हम जब सौगन्ध खाते हैं तो भगवान के नाम से, एक-दूसरे के नाम से या अपने सिर से सौगन्ध खाते हैं। सारी रामायण में किसी ने भी भगवान के नाम से कसम नहीं खाई है। वहां कसम खाते हैं धर्म के नाम से—धर्मेण शपे—"धर्म की सौगन्ध खाकर कहता हूं," यही वचन वाल्मीकि के आदि-काव्य में पाया जाता है। धर्म से बढ़कर कोई चीज है नहीं। अगर ईश्वर है तो भले हो, आत्मा है तो बहुत अच्छा, न है तो न सही, लेकिन मनुष्य के जीवन का प्रत्यक्ष और अखंड संबंध आता है धर्म के साथ। जीवन का विकास होता है धर्म के पालन से। जीवन का संकोच या अधःपात होता है धर्म का द्रोह

करने से। यह पृथ्वी चलती है धर्म को लेकर ही। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, तारा सब कोई धर्म का ही पालन करते हैं और मृत्यु भी सारे विश्व पर अपना राज्य चलाती है धर्म के वश होकर। सबका नियमन करना, सबका नियंत्रण करना मृत्यु का काम है। इस वास्ते मृत्यु को यम-धर्म भी कहते हैं। इस सारे विश्व में अगर कोई परम आर्य है, अर्हत् है तो वह यमधर्म मृत्यु ही है। औरों के हाथों अन्याय हो सकता है, मृत्यु स्वयं न्यायमूर्ति है। वरुण और यमधर्म सारे विश्व में धर्म का राज्य चलाते हैं। इसलिए सब देव-देवियों के ऊपर भी इनका राज्य चलता है।

यह यम या यमधर्म बाहर से मनुष्य का नियमन करते हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य आंतरिक यम हैं। ये ही मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक परम धर्म हैं। इस आंतरिक यमधर्म का जो पालन करते हैं, उनपर बाहरी यमराज या मृत्यु का कुछ भी अधिकार नहीं चलता। "यमः संयमितो येन, यमः तस्य करोति किम्।" सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि यमों का जिसने अनुशीलन किया, यम जिसने यमा, संयमा, उसका यमराज क्या कर सकते हैं?

जहां राज्य नहीं है, अराजक है, कानून नहीं चलता, वहां पर जबरदस्त का मनमाना कारोबार चलता है। लेकिन जहां समाज ने धर्म को माना, वहां कमजोर आदमी भी जबरदस्त को काबू में रख सकता है। सामाजिक जीवन में जो समाज-निष्ठा रहती है, वही है धर्म। न्यायनिष्ठा अथवा 'सर्वभूतहिते रतत्व,' यही है धर्म। इसी को आज हम कहते हैं सर्वोदय।

इस धर्म का स्वीकार करने से मनुष्य में मनुष्यत्व आता है और उसका विकास होता है। धर्म से बढ़कर कुछ भी नहीं है।

धर्म के कारण ही समाज की व्यवस्था और विश्व की व्यवस्था चलती आई है । यह धर्म सृष्टि के पहले भी था, आज भी है और सृष्टि को चलाता है और सृष्टि नहीं होगी, तब भी धर्म तो चलेगा ही। धर्म ही सनातन है, धर्म ही सार्वभौम है, और धर्म ही जीवन का सार है।

१९ :: विश्वात्मैक्य का आनंद

उपनिषदों में शुरू से आखिर तक आत्मा और ब्रह्म की खोज है। किसी इतालवी विद्वान ने कहा है कि वेद में जो 'तन्मयि' जैसे शब्द आते हैं, उन्हीं पर से आत्मा शब्द आया है। वह जो मुझमें है, वह है आत्मा। उपनिषदों में आत्मा की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से दी है।

आप्नोति पाता है, आदत्ते लेता है, अत्ति खाता है सबकुछ, वह है आत्मा। सबकुछ पाता है, सबकुछ ग्रहण करता है, सबकुछ खा जाता है, वह है आत्मा। आत्मा की दूसरी व्याख्या "अत्" धातु से की है (अत् सातत्य गमने)। अखंड चलते रहना, जीते रहना, सतत होना, सतत कार्य करना, यह है आत्मा का स्वरूप। "यदाप्नोति-यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह, यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मात् आत्मेति कीर्त्यते," अगर जीवन में किसी चीज की खोज करनी है, किसी चीज को पाना है, किसी के द्वारा सबकुछ प्राप्त करना है तो वह आत्मा है। वही है देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यास करने

योग्य। उस आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विज्ञान से सारे विश्व का रहस्य पाया जाता है। यह आत्मा हमारे अंदर है, हमारे जीवन का सार है। पंचभूतात्मक सृष्टि उसी के अंदर फंसी हुई है।

मनुष्य ने जब अपनी खोज की तब इन्द्रियों के साथ, 'करण' के साथ, सहयोग करनेवाला एक अंदरूनी करण भी उसने पाया। उसने उसे 'अंतःकरण' कहा। इस अंतःकरण को समझने की कोशिश करते चित्त, चित्तवृत्ति, मन, बुद्धि, अहं-कार आदि उत्तरोत्तर और सूक्ष्म तत्वों को उसने पहचान लिया और बाद में इन सबके परे जो है अथवा अंदर जो है, उसे उसने 'अन्तरतर' कहा। वही थी आत्मा।

जिस तरह मनुष्य ने अपने अंदर खोज आरंभ की, उसी तरह और शायद उसके पहले उसने बाह्य सृष्टि का रहस्य समझने की कोशिश की। सबसे पहले उसका ध्यान गया पृथ्वी-तत्व पर। उसी पर हम खड़े रहते हैं, वही हमारा आधार है। पृथ्वी के बाद उसने देखा पानी। उसका कार्य देखते मनुष्य ने उसीको 'जीवन' कहा। पानी के बिना हम जी नहीं सकते हैं। पानी समस्त जीव-सृष्टि का आधार है। यह जो बाह्य सृष्टि में पानी दीख पड़ता है, इससे भी सूक्ष्म पानी उसने देख लिया, जिसमें पंचमहाभूतात्मक सारी सृष्टि पैदा हुई है।

पानी की उपासना के बाद उसने तेज को लिया। सूर्य, चंद्र, विद्युत और अग्नि चारों में उसने तेज को देखा (सोने की चमक देखकर अथवा दूसरे किसी कारण, उसको उसने पृथ्वी में से उठाकर तेज-तत्व में डाल दिया।'

तेज की उपासना मनुष्य को वहुत ही आकर्षक हुई। लकड़ी

के दो टुकड़े एक दूसरे के साथ घिसने से धुआं निकलता है, बाद में चिनगारियां निकलती हैं और अग्नि प्रकट होती है। यह देखकर उसने अरणि का मंथन चलाया और उससे पैदा हुए अग्नि को वह आहुति देने लगा। यह था सबसे पहले का धर्म। वैदिक धर्म की बुनियाद ही यज्ञ पर है। इसी यज्ञ द्वारा तप, त्याग, बलिदान और सेवा के सामाजिक सद्‌गुणों को उसने पाया। यज्ञ और तप, दान औरसेवा, यही है मनुष्य का प्रधान धर्म। तप और यज्ञ के द्वारा तेज-तत्त्व की उपासना करने के बाद वायु की बारी आई। वायु तो हमारा श्वास है, प्राण है, । इस प्राण की उपासना करते-करते पूर्वज योग-साधना तक पहुंचे। प्राणोपासना हमारे वैदिक पूर्वजों की बहुत बड़ी साधना थी। प्राणोपासक तेजस्वी था, वह कभी दीन होकर याचना नहीं करता था। प्राणोपासक कभी परास्त नहीं हुआ। आजकल हम शक्ति बढ़ाने के लिए पौष्टिक आहार लेते हैं, विटामिन खाते हैं, वर्जिश या व्यायाम करते हैं, स्नायु को मजबूत करते हैं, शुद्ध वायुसेवन के द्वारा अपने शरीर को और खून को शुद्ध करते हैं। लेकिन मज्जा-तन्तु की शक्ति बढ़ाने की साधना हम भूल गये हैं। मनुष्य का असली सामर्थ्य उसके स्नायुओं पर निर्भर है। वह शांति अगर क्षीण हुई तो उसे वापस कैसे लाना, यह लोग अब भूल गये हैं। हमारे पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य और प्राणोपासना के द्वारा वह शक्ति बढ़ायी थी और उन्होंने अपनी आयु की मर्यादा में भी बृद्धि की थी। यह प्राणोपासना हमें फिर से ढूंढ़ निकालनी होगी और उसका अनुशीलन बड़े पैमाने पर करना होगा। संध्या-वंदन में जो सूर्योपासना आती है, वह भी प्राणोपासना ही है।

इसके बाद मनुष्य ने देखा कि सारे विश्व को घेरे हुए है आकाश। वह हमारे हृदय में भी है और सारे विश्व में भी फैला हुआ है। आकाश को देखकर आर्य-मानस स्तंभित हो गया और उसने आकाश की उपासना जोरों से की। यह पंच-भूतात्मक विश्व आकाश में ओतप्रोत है। इसकी उपासना करने से स्थैर्य और आनंदैक्य मिलेगा। यह देखकर उसने आकाश को ही अनंत का नाम दे दिया।

जिस तरह अंदरूनी उपासना में अहंकार के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई, उसी तरह बाह्य उपासना में आकाश के बाद अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति हुई। जो बड़ा है, बृहत् है, बृहत्तर, बृहत्तम है, वही है ब्रह्म। ब्रह्म से बढ़कर कुछ है ही नहीं।

जब मनुष्य की साधना अत्यन्त उत्कट हुई तब उसने पाया कि अंतरतर और अंतरतम जो आत्मा उसने पाया और बृहत्तम ब्रह्म को पाया, ये दोनों एक हैं। तब उसने चिल्लाकर कहा, "अयम् आत्मा ब्रह्म।" यह हमारे उपनिषदों का प्रथम महा-वाक्य है। मनुष्य ने और भी एक चीज पायी। आत्मा को सच-मुच पाते ही उसे परम आनंद प्राप्त होता है। इसी तरह पर-ब्रह्म को पाते ही वैसा ही एक परम् आनंद उसे मिलता है और वह बिलकुल निर्भय होता है। ब्रह्म का आनंद जिसने जान लिया, वह कभी भी और किसी से भी डरता नहीं, "आनंदं ब्राह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन।"

और जब उसने आत्मानंद और ब्रह्मानंद को पाया और दोनों की एकता अनुभव हुई तब उसे इस अद्भुत अद्वैत का ज्ञानानंद प्राप्त हुआ। अगर कोई परम आनंद है तो वह अद्वैता-नंद ही है। इस अद्वैत ही को कहते हैं विश्वात्मैक्य। सारे विश्व

के साथ अपना अभेद, अपना ऐक्य सब तरह से पाना, यही है सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से असली पुरुषार्थ नहीं हैं। पुरुषार्थ के उत्तम साधन होने के कारण उन्हें भी पुरुषार्थ कहते हैं। असली एकमात्र पुरुषार्थ तो विश्वात्मैक्य का आनंद पाना ही है।

यह जिसने पाया, उसका हृदय, उसका आशय बड़ा हो गया। वह हुआ ब्राह्मण। असली ब्राह्मण तो वही है, बाकी के सारे नामधारी ब्राह्मण हैं।

यह सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र पुरुषार्थ जिसने नहीं पाया, उसकी दीनता, उसका दारिद्रय कभी दूर नहीं होता। वह हमारी दया का पात्र है, कृपा का पात्र है। कृपा का पात्र होने से उसे कृपण कहा है। कृपण देता नहीं, याचना करता है। प्रतिग्रह की खोज में रहता है, इसीलिए वह कृपण है। दान की खोज में दौड़ने वाले और दान का माहात्म्य गानेवाले ब्राह्मण उपनिषदों की भाषा में सचमुच कृपण हैं। मनुष्य-जाति की इन दो जातियों में भी उपनिषदों ने भेद बताया है—कृपण और ब्राह्मण। हरएक कृपण को ब्राह्मण बनाना, यही है सर्वोत्तम समाज-सेवा और विश्वपूजा।

२० :: पुरुष की अंतिम गति

"पुरुषात् न परम् किंचित्।"

(कठ १-३-११)

विश्व का रहस्य क्या है, सो हम कैसे जानें ? इस सारे विश्व का जो अध्यक्ष है, वही शायद जानता होगा।

वैदिक ऋषि कहते हैं, "हम कैसे कहें कि वह भी जानता है। शायद वह भी नहीं जानता।"

लेकिन इस विश्व में जो हम हैं, हमारे लिए इस विश्व का रहस्य जरूर कुछ हो सकता है, जो हमसे अज्ञात नहीं हो सकता। हमारी दुनिया का, हमारे विश्व का, रहस्य हम न जानें, यह हो नहीं सकता। जो विश्व हमारी बुद्धि से गोचर है, उसका रहस्य पाने की मनुष्य-जाति ने चेष्टा की। विज्ञानशास्त्र ने, मानसशास्त्र ने और समाजशास्त्र ने अपने-अपने ढंग से परम रहस्य को पाने की कोशिश की। इसमें अध्यात्मशास्त्र की मदद से ही हमने वह रहस्य पाया। वह है 'पुरुष'। पुरुष के मानी हैं पर्सनैलिटी (व्यक्तित्व), ह्यूमन पर्सनैलिटी (मानवीय व्यक्तित्व) एण्ड (और) सुपर ह्यूमन पर्सनैलिटी (दैवी व्यक्तित्व)।

"पुरि शेते इति पुरुषः—" पुर् यानी यह शरीर। इसके अंदर जो सोया हुआ है, जागृत हो सकता है, वह है पुरुष। दर्शन-शास्त्री इसे कहते हैं आत्मा या अंतरात्मा। जो हमारे अंदर है वह है आत्मा। जीवन-शास्त्री कहते हैं, वह है पुरुष, वही हमारे सारे विश्व का केन्द्र है। वही उसका प्रेरक और नियामक है। उसके लिए यह सारा विश्व है। उसी का यह क्षेत्र है अथवा उसकी

यह सब लीला है। इससे बढ़कर कुछ है नहीं। सारे विश्व की और विश्व-जीवन की पराकाष्ठा इस पुरुष में पहुंच गयी है। यही पुरुष हमारे हृदय में बैठा हुआ है, यही पुरुष हमारे हृदय में पाया जाता है। सब प्रजाओं में प्राण का स्फुरण करनेवाला यह जो सूर्य हमारे सामने उगता है, उसमें भी वही पुरुष है। सूर्य के तेजस्वी बिम्ब के अंदर वह पुरुष विराजमान है, उसे हम कहते हैं—सूर्यनारायण। नारायण शब्द की व्याख्या फिर से ध्यान में लानी चाहिए।

भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल के नर-नारियों के समूह को शास्त्रकारों ने 'नार' कहा है। "नराणां समूहः नारम्।" यह 'नार' जिसका रहने का स्थान 'अयन' है, वह है 'नारायण'। वही हमारे हरएक व्यक्ति के हृदय में रहता है। वही पाया जाता है समस्त मानव-जाति के हृदय में। उसे हम समाज-पुरुष कहते हैं और वही पाया जाता है सूर्यबिम्ब में, जिसकी हम सब मानव रोज उपासना करते हैं। उसका उदय देखते ही हम गा उठते हैं—"प्राणः प्रजानाम् उदयति एष सूर्यः।"

यह जो सर्वव्यापी, अंतरबाह्य पुरुष है, वही हमारे जीवन का और विश्व-जीवन का परम रहस्य है। वही हमारा प्रेरक है, उसी की उपासना से हमारी सब शक्तियां जागृत होती हैं और उसी के द्वारा हमारी साधना सिद्ध होती है। पुरुष से बढ़कर कुछ है नहीं। आजकल हम अंग्रेजी के आदी हो गये हैं। पुरुष कहने से जो बोध नहीं होता, वह हमें पर्सनैलिटी (व्यक्तित्व) कहने से अधिक ध्यान में आता है। आत्मा तो निराकार, निर्गुण सर्वव्यापी तत्व है। उसके स्मरण से भावनाएं आज उमड़

नहीं आतीं। 'पर्सनैलिटी' कहने से इस आत्मा के इर्द-गिर्द जो भी संस्कार और गुण-धर्म इकट्ठा हुए हैं, उन सबका बोध होता है। 'पर्सनैलिटी' शब्द कुछ जीवित-सा लगता है। अपने जीवन का प्रतिबिम्ब उसमें हम पाते हैं, वही हमारे जीवन का यथार्थ सत्य है। 'पर्सनैलिटी' का बोध होने के बाद पुरुष शब्द का पूरा अर्थ हम फिर से पाते हैं।

यह पुरुष हरएक के हृदय में बसा हुआ है, लेकिन सर्वत्र एक ही पुरुष अपनी भिन्न-भिन्न साधना करके आत्मपरिचय पाता है। अनंत रूपों में अनंत व्यक्तियों के द्वारा अपनी साधना करने की लीला उसे पसंद है और इतनी विविधता में उसकी एकता टूटती नहीं। यही है उसका अन्तरतम अनुभव और उसी अद्वैत के द्वारा जो आनंद मिलता है, वही है परम आनंद।

हाथों में रबड़ का एक टुकड़ा आते ही हम खींचने लगते हैं। अधिकाधिक खींचकर हम अनुभव करना चाहते हैं कि कहां तक खींचने से वह टूटता नहीं। हम तनाव बढ़ाते हैं और अनुभव करते हैं कि इतना तनाव भी यह रबड़ सहन कर सकता है। उसी का एक आनंद होता है। इसी तरह का आनंद है एक ही पुरुष आनंदरूप धारण करके तरह-तरह की साधना करते हुए, विविध अनुभव लेते हुए, अपनी एकता खोता नहीं, इसका। इसी एकता के कारण हम औरों के अनुभव को अपना सकते हैं और अपना अनुभव औरों पर प्रकट कर सकते हैं।

ऐसी साधना के फलस्वरूप हम पाते हैं कि यह सारा विश्व सचमुच हमारे हृदयस्थ पुरुष का ब्रह्म-मंदिर है। सारा विश्व मिलकर एक ही हस्ती होती है। समस्त जीवन भी एक है। इसमें रहनेवाला और साधना द्वारा जीवन का विकास पानेवाला

पुरुष भी एक है और यह एकता कभी टूटती नहीं। यह पुरुष की अंतिम गति है।

२१ :: मूर्ति-पूजा

"न तस्य प्रसतिमा अस्ति यस्य नामः महद्यशः।"

(श्वेताश्वर ४-१६)

ऋषि कहते हैं, जिसका नाम हमने रखा है 'महद् यश' उसकी कोई प्रतिमा नहीं है। जो अरूप है, उसकी प्रतिमा कैसे हो सकती है ? इसी चीज को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने आगे कहा है :

"न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनं एवं विदुर अमृतास्ते भवन्ति ॥"

इस भगवान का स्वरूप आंख के लिए नहीं ठहरता। कोई भी इसे आंखों से नहीं देख सकता। जो उपासक इस हृदय में स्थित भगवान को हृदय से और मन से इस तरह पहचानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।

कुछ लोग इस श्लोक पर से घटाते हैं कि उपनिषदकारों को मूर्तिपूजा मान्य नहीं है।

इसमें कोई शक नहीं कि भगवान का दर्शन आंखों का विषय नहीं है। मूर्ति कोई भगवान् नहीं है, लेकिन अपनी उपासना के लिए अगर कोई अपने सामने भगवान् का प्रतीक रखे तो उसका इस वचन में निषेध नहीं पाया जाता। हमारे लोगों ने

मूर्तिपूजा की स्थूल कल्पना की ही नहीं थी। ऊपर का वचन पुराने उपनिषदों में होने से इसका महत्त्व ज्यादा है। तेरह उपनिषद सबसे पुराने माने जाते हैं। सनातनियों की दृष्टि से सब-के-सब उपनिषद् एक-से महत्त्व के हैं। उनमें तर-तम हो नहीं सकता। लेकिन सनातनी भी उन उपनिषदों को ज्यादा महत्त्व देते हैं, जिन पर प्राचीन आचार्यो ने भाष्य लिखे हैं। ऐसे तो दस ही उपनिषद् हैं, लेकिन इनके अलावा श्वेताश्वर और कौषीतकी दो उपनिषद ही आचार्यों ने महत्त्व के माने हैं और इन दोनों के साथ मैत्रायणी उपनिषद का महत्त्व भी माना जाता है।

इनके अलावा दूसरे जो उपनिषद हैं, उनमें मैत्रेयी उपनिषद में मूर्तिपूजा का स्पष्ट निषेध पाया जाता है और निषेध का कारण भी और धर्मों के कारण से भिन्न है।

इसके अलावा श्री जाबाल दर्शनोपनिषद में भी मूर्तिपूजा का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है, लेकिन वहां वह निषेध शायद योगियों तक ही मर्यादित है।

मूर्तिपूजा का जोरों से निषेध पाया जाता है इस्लाम में। प्रोटेस्टेंट ईसाई भी मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं। जैनियों में भी एक पंथ है स्थानकवासी, जो मूर्तिपूजा को नहीं मानता। प्रार्थना समाज और ब्रह्मसमाज मूर्तिपूजा को बुरा समझते हैं और आर्यसमाजी तो बड़ी ही कट्टरता से मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं।

इनमें इस्लाम मानता है कि ईश्वर की मूर्ति बनाना ईश्वर का बड़ा अपमान है। सब गुनाहों की तोबा कबूल हो सकती है, लेकिन ईश्वर के साथ और किसी को या किसी चीज

को लाकर बिठाना—यह है शिर्क या शिर्कत का गुनाह। इसकी क्षमा नहीं हो सकती। मनुष्य, पशु और पक्षी आदि जानवर प्राणियों की छवि खींचना या मूर्ति बनाना, इससे भी शरियत-परस्त मुसलमानों को चिढ़ है। कहते हैं कि जिसमें तुम जान नहीं डाल सकते, उसे तुम बनाते ही क्यों हो ?

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने बचपन में देखा कि शिवलिंग पर जो चावल पूजा में चढ़ाये गये थे, उन्हें खाने के लिए चूहे शिवलिंग पर सवार हुए और भगवान उन्हें हटा नहीं सके। इससे उनको मूर्तिपूजा के प्रति अरुचि हो गई।

यूरोप में मूर्तिपूजा का निषेध चला, उसका कारण कुछ और था। ईसाई धर्म का प्रचलन हुआ, उसके पहले चंद देशों में लोग मूर्ति को ही भगवान् मानते थे। मूर्ति का मुंह खुला रखते थे। भगवान् को अगर अपना लड़का अर्पण करना है तो लड़के को मारकर उसके शरीर के टुकड़े करते थे और वे टुकड़े मूर्ति के हाथ में रख देते थे और पुजारी मूर्ति के पीछे से एक रस्सी खींचकर मूर्ति का हाथ मूर्ति के मुंह की ओर ले जाता था, जिससे वे सारे टुकड़े मूर्ति के मुंह से पेट तक की ओर चले जाते थे। भोले भक्त मानते थे कि उनके दिये हुए बलिदान को भगवान् ने खा लिया।

यूरोप में मूर्ति के मंदिरों में देवदासी की जैसी प्रथा भी थी, जिससे अनाचार फैलता था। इसलिए समाज-हितैषी लोगों ने मूर्तिपूजा का ही निषध किया। इस तरह मूर्तिपूजा-निषेध के दो-तीन कारण हमारे सामने आते हैं। १. भगवान् अरूप है, उसका रूप बनाना गलत है, यह आक्षेप मौलिक और तात्विक है। २. भगवान् की मूर्ति बनाना भगवान का अपमान करना है। यह

आक्षेप भावना-प्रधान है। ३. मूर्तिपूजा के साथ तरह-तरह के भ्रम और अनाचार फैलते हैं। इसलिए मूर्तिपूजा अच्छी नहीं। यह आक्षेप हुआ सामाजिक दृष्टि का।

हमारे यहां के धर्मोपदेशक कहते हैं कि मूर्तिपूजा बाल स्व-भाव के लोगों के लिए ठीक है। छोटी लड़कियां जिस तरह गुड़िया लेकर खेलती हैं, उसी तरह प्राकृत लोग मूर्ति अपने सामने रख-कर उसको नहलाते हैं, खिलाते-पिलाते हैं, उसको अच्छे कपड़े पहनाते हैं और अपनी कलात्मक वृत्ति तृप्त करते हैं। उसमें कुछ सेवा-भाव भी है। गर्मी के दिनों में मूर्ति को पंखा करना, जाड़े के दिनों में गर्म कपड़े पहनाना और गरम मसाले का भोजन देना, जुकाम होने की कल्पना करके भगवान् को दवाई देना, ये सब बच्चों के खेल हैं।

आदमी बड़ा होने पर मूर्ति छोड़कर भगवान् की मानस-पूजा करता है।

मानस-पूजा में भी केवल बुद्धि से अथवा कल्पना-मात्र से भगवान् की मूर्ति मन के सामने रखी जाती है। कल्पना से ही भगवान को स्नान कराया जाता है। खान-पान आदि सब विधियां पार्थिव वस्तुओं के बिना सम्पन्न की जाती हैं। इसमें वस्तुओं का व्यवहार भले न हो, किन्तु भगवान् को मनुष्य का जैसा साकार तो माना ही जाता है और पसीना दूर करने के लिए स्नान, भूख-प्यास दूर करने के लिए भोजन और पानी—सबकी जरूरत तो मानी ही जाती है।

जैन मंदिरों में यह सब झंझट नहीं है। वहां केवल मूर्ति की स्वच्छता और शोभा का ही विचार रहता है।

अब हम मैत्रेयी उपनिषद का वचन जरा देख लें।

"पाषाणलोहमणिमृण्मय विग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः । तस्माद्यतिः स्वहृदयारचनमेव कुर्याद्बाह्यारचनं परिहरेदपुनरभवाय ।"

(मैत्रेयी-२६)

अर्थात् पत्थर, लोहा, कांच या रत्न और मिट्टी की बनी हुई मूर्तियों की पूजा करने से मनुष्य को मोक्ष नहीं मिलता। ऐसी पूजा मनुष्य को भोगविलास की ओर ले जाती है और पुनर्जन्म लेना उसके लिए अपरिहार्य होता है। इसलिए सच्चे यती को चाहिए कि वह भगवान् को अपने हृद में ही पूजे। अगर मोक्ष चाहिए तो बाह्यार्चन, बाह्यपूजा प्रयत्नपूर्वक छोड़ देनी चाहिए।

"तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादि निर्मितान्। योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्यय कारणात्।"

(मैत्रेयी ४-५२)

पानी से भरे हुए तीर्थ और लकड़ी आदि वस्तुओं से बनी हुई मूर्तियां, इनके द्वारा योगी भगवान् की पूजा नहीं करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान् तो आत्मा के रूप में उनके हृदय में ही विराजमान हैं। आत्मा का साक्षात्कार होने पर बाह्य वस्तु की पूजा निरर्थक होती है।

हम राजा की, प्रभु की, पिता-माता की और दूसरे पूज्य बड़ों की सेवा करते हैं, उनकी सेवा द्वारा। वे थक जाने पर उनकी मालिश करते हैं, उनको स्नान कराते हैं। मनुष्य के लिए जिन-जिन भोगों की आवश्यकता हो, वे सब भोग उन्हें प्राप्त कराते हैं, अर्पण करते हैं। इस तरह से अगर भगवान् की भी पूजा करें तो भगवान् के प्रति आदर व्यक्त होगा सही;

किन्तु उसमें जो भोग अर्पण करने की बात आती है, उसके द्वारा भोगों का ही ध्यान किया जाता है। भोगों का महत्त्व ध्यान में आता है। प्रसाद के रूप में इन सब भोगों का हम स्वयं कम या ज्यादा उपभोग भी करते हैं। मूर्ति को भोग चढ़ाने पर वही सारा मिष्ठान्न हम प्रसाद कहकर खाते हैं। मंदिर में मूर्ति के सामने जो संगीत और नृत्य चलता है; उसका उपयोग हम भी लेते हैं। देवदासी प्रथा की बात हम यहां छोड़ दें, लेकिन मूर्ति-पूजा हमें भोग की तरफ ले जाती है। इसलिए वह पुर्नजन्म की तैयारी करती ही है, इसमें कोई शक नहीं।

जो मनुष्य भगवान् को अपने से बाहर देखता है, उसके लिए मोक्ष है नहीं। इस महत्त्व के सिद्धान्त के कारण उपनिषदों ने मूर्तिपूजा का निषेध किया है।

वेदकालीन यज्ञ-धर्म में मूर्तिपूजा थी नहीं। बाद में मूर्ति-पूजा हमारे धर्म में घुस गई। कोई कहते हैं कि वह अरबस्तान से आई और इसलिए उसके पीछे-पीछे मूर्तिपूजा का निषेध करनेवाला इस्लाम भी हमारे यहां आया। अगर एक बला आई तो उसका इलाज भी आ जायेगा।

जो लोग मूर्ति की पूजा नहीं करते, केवल ध्यान के लिए, आलंबन के रूप में मूर्ति को अपनी नजर के सामने रखते हैं, उनको भी समझना चाहिए कि निरालम्ब की उपासना निरालम्ब पद्धति से ही होनी चाहिए।

२२ :: आत्मा की शक्ति

तत् एतत् पदनीयम् अस्य सर्वस्य यत् अयम् आत्मा।
अनेन हि एतत् सर्वं वेद ।। (बृहदारण्यक १-४-७)

जब आत्मा सांस लेता है तब उसे प्राण के नाम से पहचानते हैं। जब वह बोलता है तब उसे हम वाणी कहते हैं। देखता है, तब चक्षु कहते हैं। सुनता है तब श्रोत्र कहते हैं। सोचता है तब मन कहते हैं। ये सब आत्मा के कर्म-नाम हैं (कर्म-नामः)।

प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत, मन आदि एक-एक भाग ही जो जानता है, वह आत्मा को पूर्णतया नहीं जानता। उसका ज्ञान अधूरा होता है। जब इनको एकत्र करके आत्मा के नाम से और रूप में उसे हम पहचानते हैं तब हमारा एकांगी ज्ञान सर्वांगीण होता है और सब तरह की शक्ति हमारे अंदर प्रकट होती है।

हमारे अंदर यह जो आत्मा रहता है, वही बाहरी दुनिया में ब्रह्म का रूप धारण करता है। इसलिए आत्मा को पहचानने से सारा विश्व पहचाना जाता है। आत्म का स्वरूप, आत्मा की शक्ति और आत्मा का सार्वभौम समझने से सारे विश्व का स्वरूप, उसकी शक्ति और उसका विस्तार असल रूप में हम समझ सकते हैं।

आजकल पश्चिम में भौतिक शास्त्र की खोज हो रही है, वह आत्मज्ञान द्वारा नहीं, बल्कि बाह्य प्रयोगों के द्वारा होती है। इसलिए वह ज्ञान शुद्ध नहीं हो सकता।

किसी के मन की बात, अंतर की बात जाननी हो तो उसके दो उपाय हैं। पुलिस के लोग किसी तोहमतदार के पास से सब

जानकारी हासिल करना चाहते हैं तब वे उससे चालबाजी से प्रश्न पूछते हैं, बाद में उसे धमकाते हैं, पीटते हैं, भूखा रखते हैं, पानी नहीं पीने देते, सोने नहीं देते। इस तरह से परेशान हुआ वह आदमी अपने ऊपर काबू खो बैठता है और डर के मारे यां निद्रानाश से मन का काबू खोने के कारण बहुत-सी बातें कहने लगता है। शराबी आदमी भी न कहने की बातें बक जाता है। किसी गुनहगार से उसकी गुप्त बातें निकालने के लिए पुलिस के लोग उसे पीड़ा देते हैं, या धोखा देते हैं।

इसके विपरीत जब कभी कोई मां अपने बच्चे का हृदय जानना चाहती है, तब वह अपने बच्चे के साथ प्यार से पेश आती है। उसके सुख-दुःख के साथ समरस होती है और फिर बच्चा आप-ही-आप हृदय की सब बातें कहने लगता है। उसे विश्वास होता है कि माता सब तरह से हितकर्ता है। अपना भला ही चाहती है। हृदय की बात माता को कहने से लाभ है, डर, नुकसान या खतरा तनिक भी नहीं है।

और जब माता का प्रेम बढ़कर उच्चकोटि तक, दैवी कोटि तक, पहुंचता है तब बच्चे के कहे बिना ही माता बच्चे के भाव समझ जाती है। हृदय के साथ हृदय का मिलान होने पर एक हृदय की बातें दूसरे हृदय में आप-ही-आप उठने लगती हैं। यह है प्रेम का तरीका।

आज दुनिया-भर में विज्ञान की जो खोज चलती है, वह पुलिस के ढंग की है। विज्ञान-शास्त्री या रसायन-शास्त्री चीज को लेकर पीटता है, तपाता है, उस पर तेजाब डालता है, पदार्थ को परेशान करने के सब प्रकार आजमाता है और वह पदार्थ घबराकर, लाचार होकर, अपना सारा रहस्य बोल देता है। जब

गाय दूध नहीं देती तब गौ-वाले कभी-कभी उसे ऐसे पीटते हैं कि डर के मारे गाय दूध भी देती है और पेशाब भी करती है। कुदरत के साथ घातक दृष्टि से पेश आना, यह है आज का विज्ञान। वैज्ञानिक उसे प्रयोग कहते हैं। इस प्रयोग-पद्धति के विपरीत योग-पद्धति है, जिसके द्वारा हम आत्म-शक्ति से अपना संबंध औरों से और बाह्य सृष्टि से जोड़ देते हैं, दोनों का योग करते हैं। तब हर चीज का रहस्य जितना भी हम चाहें, हमारे सामने प्रकट होता है, होना ही चाहिए। यह योग-पद्धति आदि-काल के सब देशों के ऋषि-मुनियों ने कुछ-कुछ पाई थी। अब उसे हम बहुत-कुछ भूल गये हैं, खो बैठे हैं। आत्मा का ध्यान करके वह शक्ति फिर से लानी पड़ेगी।

जिस तरह कोई जांगलिक जंगल में किसी जानवर का पदचिह्न देखकर उसे पहचानता है, आगे बढ़ता है और जान-वरों को पा लेता है, उसी तरह अगर हम आत्मा को पहचानें तो सारे विश्व को पहचानने का वह एक साधन, पदनीय बनता है।

प्राचीनकाल के लोगों को इस बात पर इतनी श्रद्धा थी कि वे मानते थे कि अगर योगी ध्यान करने बैठ जाय तो दुनिया की सब बातें उसकी समझ में आ जाती हैं। किसी राज्य का राजा गुप्त साधना के लिए प्रासाद से भाग गया। रानी ने कर्म-चारियों को सब दिशाओं में दौड़ाया, कहीं भी पता नहीं चला। रानी योगिनी थी। उसने सोचा कि यह सारा परिश्रम व्यर्थ ही था। अगर पिंड-ब्रह्माण्ड-न्याय सही है, यानी जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है, यह बात अगर सही है, तो मैं ध्यान में बैठकर अपने ही मन में राजा को

क्यों न ढूंढ़ू ? मन में उसका पता लगते ही ब्रह्माण्ड में वह कहीं भी गया हो, उसका ठीक पता मिलना ही चाहिए। उसने वैसा ही किया और उसे सफलता मिली। ऐसी-ऐसी कथाएं हमारे पुराणों में और अन्य साहित्य में पायी जाती हैं। इस पर से हम समझ सकते हैं कि हमारे पूर्वजों की इस पद्धति पर कितनी श्रद्धा थी। उन्हें कितनी सिद्धि मिली थी, सो तो हम नहीं कह सकते; किन्तु उस जमाने का चन्द लोगों का सूक्ष्म ज्ञान देखकर आश्चर्य होता है और मन कहता है कि यह सब उन लोगों ने प्रयोग के द्वारा नहीं पाया होगा।

कुछ भी हो, आत्मा की शक्ति का पूरा पता अभी तक हमें नहीं लगा है। अणु (एटम) को मुक्त करने से उसका कुछ प्रभाव तो हम जानने लगे हैं। आत्मा के प्रभाव की तो मर्यादा ही नहीं। आत्मा को समझने का और उसे मुक्त करने का तरीका हाथ में आना चाहिए।

२३ :: आहार-शुद्धि का अर्थ

आहार-शुद्धौ सत्व-शुद्धि:, सत्व शुद्धौ धरुवा स्मृति :
स्मृतिलाभे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः।

(छांदोग्य ७-२६-२)

सनातनी लोग इस वचन का उपयोग बहुत करते हैं। आहार शुद्ध रहने से मनुष्य का चारित्र्य उसका शरीर, मन और उसके भाव शुद्ध होते हैं, सत्वशुद्धि होने से स्मृति ध्रुव

होती है, इत्यादि।

इस वचन का कुछ गहराई में जाकर विचार करना चाहिए। मामूली अर्थ स्पष्ट है। अगर हम मांसाहार नहीं करेंगे, प्याज, लहसुन आदि तमोगुणी अथवा विकारोत्तेजक चीजें नहीं खायेंगे, बासी या सड़ी हुई चीजें भी नहीं खायेंगे, तो हमारा शरीर, मन सब पवित्र रहेंगे। आहार-शुद्धि का अर्थ इतना ही किया जाता है कि शास्त्रों में जिन चीजों का खाना मना है, सो हम न खायें।

यहूदियों में भी ऐसे बहुत से नियम थे और आज भी हैं। ऐसे नियमों से ऊबकर ईसामसीह ने अपना एक सूत्र लोगों के सामने रख दिया : "मनुष्य के शरीर में, पेट में जानेवाली चीजें उसे अपवित्र नहीं बनाती हैं। उसके शरीर से, उसके मुख से जो चीजें बाहर निकलती हैं, उससे वह अपवित्र होता है।" उनका मतलब यह था कि मनुष्य आहार के तौर पर कुछ भी खाये, सेबथ[1] के दिन भी खाये तो वह अपवित्र होनेवाला नहीं है। उसके मुंह से अगर गालियाँ निकलीं, क्रोध के वचन निकले, उसने किसी को शाप दिया, तो उससे वह आदमी जरूर भ्रष्ट हो जायेगा। यहूदियों की धार्मिक रूढ़ि के जवाब के तौर पर यह वचन ठीक है। लेकिन लोग धर्म-वचनों का कानूनों के वचनों के जैसा अक्षरार्थ करने बैठते हैं और असली उद्देश्य को नष्ट करते हैं।

ईसामसीह का वचन शास्त्रीय सिद्धांत के तौर पर हम न लें। सड़ी हुई चीज मनुष्य खा जाय तो उसका आध्यात्मिक असर शायद तुरन्त कुछ न हो, पर उसका शरीर तो भ्रष्ट होगा ही। नरमांस-भक्षकों को उस मांस से शारीरिक हानि भले

[1]विश्राम-दिवस

ही कुछ न होती हो, लेकिन भावना की दृष्टि से देखा जाय तो आहार के लिए मनुष्य-प्राणी को मारकर उसका मांस खानेवाला पतित है ही।

जो चीज मनुष्य के अंदर जाती है, उसका असर उसके शरीर पर और मन पर होता ही है।

और मनुष्य के मुंह से या उसके शरीर से जो चीजें निकलती हैं, वे अगर दुर्गंधयुक्त हुईं, रोगयुक्त हुईं तो सारे वायुमंडल को और समाज को उनसे हानि जरूर पहुंचेगी। जो चीज अंदर जाती है और जो चीज बाहर निकलती है, ऐसा भेद करने से कोई लाभ नहीं है। हम नहीं मानते कि ईसामसीह ने कोई सनातन, शास्त्रीय, त्रिकालाबाधित सिद्धांत के तौर पर वह वचन कहा था। उन्होंने चिढ़कर इतना ही कहा था कि मनुष्य क्या खाता है, इसकी चिकित्सा करने क्यों बैठते हो ? वह अपने भाइयों से, सारे समाज से, कैसे पेश आता है, यही महत्त्व की चीज है।

किसी एक ऋषि को बदहजमी हुई थी या ऐसा ही कुछ दूसरा रोग हुआ था। उसके मुंह से जो श्वासोच्छ्वास निकलता था, वह दुर्गंधयुक्त था और उससे आसपास के लोगों का नुकसान होने की संभावना थी। इसलिए वह किसी को अपने नजदीक बैठने नहीं देता था। लेकिन उसका प्रवचन-धर्म तेज से भरा हुआ रहता था। जो सैकड़ों और हजारों लोग उसका प्रवचन सुनने को आते थे, उनके मन पर और चारित्र्य पर अच्छे-से-अच्छा धार्मिक असर होता था।

अगर कोई कवि चारित्र्य-भ्रष्ट है तो उसका और उसके वचनों का असर समाज पर होगा ही। उसके अच्छे-से-अच्छे

वचनों का भी समाज पर पूरा असर नहीं होगा, लेकिन उसके चारित्र्य के बारे में जो लोग कुछ भी नहीं जानते, वे तो उसके वचनों का सीधा अर्थ लेकर लाभ उठा सकते हैं।

मनुष्य के स्वभाव की कमजोरी अलग चीज है, दुष्टता अलग चीज है। किसी के बारे में सोचते समय यह फर्क हम भूल नहीं सकते।

अब हम उपनिषद के मूल वचन के बारे में जरा गहराई से सोचें। आहार का अर्थ केवल खाने-पीने की चीजों तक हम मर्यादित न करें। हमारी सब इन्द्रियां जो-जो चीजें लेती हैं, पुष्टि के तौर पर या सुख-प्राप्ति की दृष्टि से इन्द्रियां जिन-जिन चीजों को स्वीकार करती हैं, वे सब आहार हैं। हम आंखों से जो कुछ भी देखते हैं, कानों से सुनते हैं, वह भी आहार ही है। खानपान की चीजों के बारे में जो सावधानता आवश्यक है, वही सब इन्द्रियों के व्यापार के बारे में भी आवश्यक है। सावधानी ही अमृतत्व ला देती है—'अप्पमादो अमृतपदम्'। गफलत में न रहना, सावधानी से चलना, भूलें नहीं करना—यही है अमृतत्व का मार्ग। 'पमादो मच्चुनो पदम्' प्रमाद ही गफलत, असावधानी, बेदरकारी, अन्धापा ही मृत्यु का मार्ग है।

अब हम सोचें कि आहार-शुद्धि के मानी क्या हैं ? अगर हम रजोगुण और तमोगुण बढ़ानेवाले आहार का सेवन करें तो सत्वशुद्धि पर उसका बुरा असर अवश्य होगा। शास्त्रों में ऐसी चीजों का वर्णन किया है। उस जमाने की धारणा के अनुसार वह फेहरिस्त बनी हुई है। आज हम नहीं मानते कि प्याज और लहसुन योग्य प्रमाण में लेने से सात्विकता को कुछ भी हानि

है। टमाटर जैसे पदार्थ पुराने लोगों ने निषिद्ध माने । आज हम वैसा नहीं मानते। अनुभव और ज्ञान की वृद्धि से पुराने वचनों में परिवर्तन करना पड़ेगा, लेकिन यह सिद्धान्त तो त्रिकाल के लिए सही है ही कि आहार का असर चारित्र्य पर होता है।

लेकिन आहार-शुद्धि का एक दूसरा और महत्व का पहलू है, जिसकी ओर विशेष ध्यान देना अत्यंत जरूरी है। शुद्ध आहार वही है, जो हमने ईमानदारी से पाया है। अगर सात्विक पदार्थ हम कहीं से चोरी करके ले आयें तो उनके सेवन से हमारी सत्वशुद्धि खतरे में आये बिना नहीं रहेगी। अन्याय से, गरीबों को लूटकर या निचोड़कर जो भी आमदनी हम पाते हैं, वह पापमूलक है। उसके सेवन से हमारा चारित्र्य भ्रष्ट होता है। आहार-शुद्धि का यह महत्त्व का अर्थ शुद्ध भोजन ही नहीं, बल्कि ईमानदारी की जिन्दगी भी है। कहीं भी किसी के अज्ञान से, उसकी दुर्दशा से हमने नाजायज लाभ उठाया तो हमारी आहार-शुद्धि टूट गई।

प्रामाणिक आहार भी अगर हमने कुटुम्ब के सब लोगों में बांटकर नहीं खाया, हमारे आहार पर जिन-जिन लोगों का न्याय्य अधिकार है, उनको उनका विभाग दिये बिना खाया, उपभोग किया, तो वह भी आहार-शुद्धि के कर्तव्य से च्युत ही है।

आहार और शुद्धि दोनों शब्दों का व्यापक अर्थ करने से ही हमें उपनिषद के इस वचन का पूरा अर्थ मिलता है और सत्व-शुद्धि क्या है, वह भी हम ठीक समझ सकते हैं।

सत्व के मानी हैं हमारे शरीर, मन, चित्त, अहंकार आदि का महत्त्व का यानी सार रूप भाग। जिन-जिन बातों से हमारा व्यक्तित्व बना हुआ है, वे सब बातें सत्व में आ जाती हैं। सत्व

के मानी चारित्र्य तो हैं ही।

ईशोपनिषद् में कहा है—'मा गृधः कस्यस्विद धनम्।' किसी के धन को गीधना नहीं। किसी के धन के प्रति गीध की जैसी लोभीदृष्टि नहीं रखनी चाहिए। समाज के पुरुषार्थ से जो धन संग्रह होता है, वह समाज का है। जो चीज समाज की ओर से पारितोषिक के रूप में मिलती है, वही हमारी है। जो हमें नहीं दिया गया, वही अगर हमने लिया तो वह हुआ 'अदत्तादान'। वह अगर हमने लिया तो वह चोरी ही है। रास्ते पर पड़ी हुई चीज हमने ले ली या किसी पेड़ का फल हमने खा लिया, तो उसमें 'अदत्त आदान' का दोष आ गया और हमारी आहार-शुद्धि टूट गई।

शंकराचार्य ने अपने स्तोत्र में थोड़े शब्दों में सब बात स्पष्ट की है। 'यल्लभसे निज-कर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्।' अपनी निजी मेहनत से जो कुछ भी धन पाओ, उसी से अपने मन को, चित्त को संतोष दे दो, अपनी मेहनत की चीज से जो कुछ भी आहार या आराम मिलता है, उसी से संतोष मानो और अपनी प्रसन्नता बनाये रखो—यह है आचार्य का उपदेश। आहार-शुद्धि का यह सबसे बड़ा भाग है।

इन्द्रियों द्वारा जो भी विषयों का सेवन किया जाता है, उसकी शुद्धि होने से मनुष्य का सारा व्यक्तित्व सत्व-शुद्ध होता है। उसके विचार, उसकी दृष्टि, उसके हेतु सब शुद्ध होने से उसमें एक प्रकार की जागरूकता आती है। "मैं कौन हूं? मेरा जीवनोद्देश्य क्या है? कौन से आदर्शों को लेकर मैं जीता हूं?" इसकी जागरूकता को स्मृति कहते हैं। स्मृति का नाश होने से मनुष्य का सर्वनाश होता है। भगवद्गीता में स्थित-

प्रज्ञ का वर्णन करते हुए जिस वृत्ति की चर्चा आई है, वह यही स्मृति है। जब मनुष्य वासना के काबू में जाकर संमोहवश होता है, तब स्मृति खो बैठता है। संमोह के सब कारण दूर होने पर मनुष्य स्मृतिमान होता है। ऐसा स्मृतिमान आदमी ही आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है। स्मृतिलाभ से बुद्धि ऐसी शुद्ध, जागरूक और तेजस्वी होती है कि मन में तनिक भी संदेह नहीं रहता। इसी को कहा है ग्रंथियों का छूट जाना। मोक्ष का ही यह वर्णन है।

इसलिए मनुष्य को वही साधना करनी है। वह मुख्यतः प्राणायाम आदि की नहीं, किन्तु यम, नियम आदि की है। यम, शम, दम ये सब आहार-शुद्धि के ही फल हैं।

भगवद्‌गीता में दैवी संपद् का जो वर्णन किया है, उसमें अभय के बाद सत्व-संशुद्धि का जिक्र आता है। वही है मुख्य साधना।

२४ :: 'कल्याणो धम्मो'

"धर्मशास्त्रं महर्षीणां अन्तःकरणसंभृतम्।"

(सीतोपनिषद्)

व्यक्ति और समाज के आचरण के नियम जिसमें दिये जाते हैं, वह है धर्मशास्त्र। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों के प्रारंभ में ही धर्म की स्थापना है। धर्म के द्वारा ही सब व्यक्ति, सब कुटुंब, सब जाति और सब वर्ग अविरोधी वृत्ति से रहकर

परस्पर सहयोग के द्वारा चरम उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं।

धर्म-रहित जीवन में द्रोह और परस्पर विरोध स्वाभाविक होता है और फलतः सर्वनाश की तैयारी होती है।

इस विश्व में हरएक को जीने का अधिकार है। परमात्मा के कुछ-न-कुछ प्रयोजन से ही हरएक जीव यहां आया है और जब सबको यहां जीना है तब हरएक को दूसरों के अधिकार को संभालते हुए अपना जीवन-यापन करना है। सबके उदय में अपना उदय देखने पाने के लिए जो सर्वकल्याणमयी व्यवस्था बताई गई है वही है धर्म।

प्रत्येक मनुष्य का, प्रत्येक प्राणी का, प्रत्येक सत्व का, जीवन मृत्यु से मर्यादित नहीं है। मृत्यु के बाद भी हरएक सत्व को रूपांतर से जीने का अवकाश है।

पुनर्जन्म की बात मैं यहां नहीं कर रहा हूं। एक शरीर छोड़ने के बाद जीव दूसरा शरीर धारण करता है और उस शरीर के द्वारा नया जीवन चलता है, यह है पुनर्जन्म की कल्पना। इस पुनर्जन्म का विचार किये बिना हम मनुष्य की मृत्यु के बाद भी उसका वही जीवन जो आगे चल सकता है, उसपर यहां विचार कर रहे हैं। मनुष्य कहता है कि मैं अगर अपना कर्जा अदा करके न चला जाऊं, मेरी मृत्यु के पीछे अगर लोग कहें कि यह आदमी कर्जा डुबोकर चला गया तो ऐसी मरणोत्तर अपकीर्ति मुझे सहन नहीं होगी।

दूसरा आदमी कहता है कि मेरे मरण के बाद मेरे पुत्र-पौत्र अगर दुखी रहे, आपद्ग्रस्त रहे, तो मेरे लिए यह शोभादायक नहीं होगा। इससे बेहतर है कि मैं आमरण कष्ट में रहूं और पैसा बचाकर अपने वंशजों के लिए छोड़ जाऊं। यह मनुष्य भी

अपने मरणोत्तर जीवन का समाधान चाहता है।

धर्म जब मनुष्य-जीवन की व्यवस्था बताता है, तब उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का विचार तो करता ही है, साथ-साथ उसके मरणोत्तर जीवन के कल्याण का भी विचार करता है। धर्म की दृष्टि ह्रस्व नहीं होती, दीर्घ होती है। इसलिए बुद्ध भगवान ने कहा, "कल्याणो धम्मो"। धर्म सबका, सब तरह का, सार्वकालिक कल्याण चाहता है और उसी की सिद्धि के लिए यत्नवान रहता है।

ऐसे सर्वोदयकारी, सर्वकल्याणी, सनातन धर्म का शास्त्र जिन्होंने बनाया, उनको ऋषि कहते हैं, महर्षि कहते हैं। वे अपना स्वार्थ छोड़कर 'सर्वभूत हिते रताः' रहते हैं। न उनमें स्वार्थ होता है, न पक्षपात, न आसक्ति। पूर्ण हृदय-शुद्धि के बाद ज्ञान-नेत्र को जाग्रत करके और सर्वविद् होकर वे धर्मशास्त्र का विचार करते हैं।

उनके सर्वकल्याण के विचार में धैर्य और क्षमा दोनों को स्थान होता है। वे केवल तर्क से काम नहीं लेते, केवल युक्ति और न्याय के आधार पर नहीं सोचते। सर्व कल्याण का विचार करते हुए वे परम कारुणिक अन्तःकरण से सोचते हैं।

उनकी दृष्टि समझने के लिए केवल कुशाग्र बुद्धि पर्याप्त नहीं है। उनके जैसा विशाल हृदय जिसका है, वही उनकी बातें समझ सकेगा।

ऋषि कहता है कि जिसे हम धर्मशास्त्र कहते हैं, वह ऋषियों के अन्तःकरण में इकट्ठा होता है।

जिस तरह बांस बड़ा और परिपक्व होने के बाद उसके

पेट में वंशलोचन इकट्ठा होता है (वंशलोचन बड़े काम की दवा है। सफेद-सफेद गोली के रूप में पाया जाता है), उसी तरह महर्षियों के अन्तःकरण में धर्मशास्त्र के वचन बनते जाते हैं।

२५ :: ज्ञानोपासना की अदम्य प्रेरणा

कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वम् इदं विज्ञातम् भवति।

(मुण्डक १,१,३)

जिज्ञासा मनुष्य का प्रधान धर्म है। वह उसकी एक अदम्य प्रेरणा है। मनुष्य सबकुछ जानना चाहता है। बाह्य जगत् और आन्तर जगत्, दोनों उसकी जिज्ञासा के विषय हैं।

एक ऋषि से पूछा गया, "ज्ञान की उपासना कबतक करोगे? तुम्हारे बाल सफेद हो गये। शरीर की चमड़ी पर झुर्रियां आ गईं। कमर झुक गई। सिर में कम्प आ गया है। दांत कब के चले गये। आंखों का तेज भी क्षीण हो गया।" उसने कहा, "जबतक जीवित हूं, वेद पढ़ता ही रहूंगा। मेरी ज्ञान की उपासना चलती ही रहेगी।"

"तो क्या जीवन के अनेक रसों का अनुभव अगले जन्मों में करोगे?"

"ज्ञान की खोज करना यह जीवन का सबसे बड़ा रस—रसतम है। जितने जन्म मुझे मिलेंगे, ज्ञान की खोज में ही व्यतीत करूंगा।"

"भगवान् तुम्हारा भला करें ! लेकिन समझ लो कि ज्ञान अनन्त है। 'अनन्ताः वेदाः।' "

इस तरह अनन्त ज्ञान की खोज करते-करते मनुष्य ने सोचा कि इस खोज का अन्त-पार नहीं है। लेकिन ज्ञान की प्राप्ति तो होनी ही चाहिए। ऐसी कुछेक चीज होनी चाहिए, जिसके जानने से सबकुछ जाना जा सकता है। अगर सुवर्ण का रहस्य समझ में आ गया तो सुवर्ण से बननेवाले सब अलंकारों का रहस्य पाया जा सकता है। नगाड़े से तो तरह-तरह की आवाजें निकलती हैं, उन सबको पकड़ना नामुमकिन है। नगाड़े को ही पकड़ने से सब आवाजें हाथ में आ जाती हैं, या बजनेवाले शंख या वीणा को पकड़ने से। उस तरह किसी मध्यस्थ, या किसी मूल चीज को पकड़ने से सारे विस्तार को हम समझ सकते हैं। 'मन' समझ लिया तो सब संकल्पों का ज्ञान हो गया। हृदय का रहस्य पाने पर सर्व विद्या-कला का रहस्य पाया जाता है।

इस निश्चय पर आने के बाद हमारे ऋषियों ने सारे विश्व के रहस्य को ढूंढ़ना चाहा और वे आत्मा-परमात्मा को पा सके। पिण्ड-ब्रह्माण्ड न्याय पर हमारे लोगों का विश्वास इतना दृढ़ हो गया कि पुराणकार कहने लगे कि जब अपने दूतों को और चोरों को चोर को ढूंढ़ने के लिए चारों दिशा में भेजकर राजा असफल हुआ तब उसने एकान्त में बैठकर उसी चोर पर ध्यान लगाया। ब्रह्माण्ड में अगर चोर कहीं है तो मुझे अपने पिण्ड में उसका पता मिलना ही चाहिए। ऐसे ध्यान से राजा को चोर का पता मिल गया और वह उसे पकड़ सका।

गृहस्थाश्रमी शौनक और ब्रह्मविद् अंगिरा, ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और योगीश्वर याज्ञवल्क्य, इसी की खोज में पड़े थे कि

किस चीज के जानने से सारे विश्व का रहस्य हाथ आ जायेगा, समझ में आ जायेगा। ब्रह्माण्ड का रहस्य पाने के प्रयत्न में ऋषियों ने परा और अपरा विद्या पाई और उनका जीवन धन्य हो गया।

•

जिज्ञासा इतनी अदम्य क्यों होती है ? और ज्ञान-प्राप्ति में इतना आनंद क्यों मिलता है ? ज्ञान प्राप्त होने के बाद उसके उपयोग से हम तरह-तरह के लाभ उठा सकते हैं सही। ज्ञान के द्वारा हमारा सामर्थ्य बढ़ता है, यह तो विश्वजनीन अनुभव है। सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सबसे प्रधान वस्तु है तपस्या। तपस्या के द्वारा सब पाप और सब कमजोरियां नष्ट हो जाती हैं। क्षीणता का अंत हो जाता है। तपस्या के द्वारा शुद्धि, शक्ति और समृद्धि प्राप्त होती है। तपस्या ही पौरुष है, पराक्रम, प्रभुत्व है। ज्ञान सचमुच एक तपस्या ही है। 'बहवो ज्ञानतपसा पूताः मद्भावम् आश्रिताः। तस्य ज्ञानमयं तपः।"

लेकिन जिज्ञासा की अदम्य प्रेरणा विश्वात्मैक्य की साधना में से उत्पन्न होती है। जिस चीज का ज्ञान हुआ, उसके साथ हमारा ऐक्य स्थापित हो ही जाता है, यहां तक कि अगर हम किसी पापी को यथार्थरूप म पहचानें और उसके पाप का स्वरूप समझ लें तो उसके प्रति घृणा और तिरस्कार कम होते हैं और कुछ-न-कुछ सहानुभूति की उत्पत्ति होती है। यह सहानुभूति ही पापी के उद्धार का रास्ता बताती है और पापी के उद्धार के लिए जो प्रयत्न किया जाता है और प्रसंगवश आत्म-बलिदान भी दिया जाता है, उसमें प्रेरक शक्ति विश्वात्मैक्य ही है और उस बलिदान की फलश्रुति या अन्तिम लाभ भी अद्वैतानंद है।

ज्ञानोपासना की अदम्य प्रेरणा मनुष्य को आत्म-बलिदान तक, जीवन-समर्पण तक ले जाती है—यह करामात भी अद्वैतानंद की ही है। उस बलिदान का थोड़ा-सा मनन करते ही हम उसमें विश्वात्मैक्य ही पाते हैं।

२६ :: महामना

"महामनाः स्यात् तद् व्रतम्।"

(छांदोग्य, २-११-२)

उपनिषद में आत्मचिंतन और ब्रह्म की उपासना इन दोनों का जितना महत्त्व है, उतना ही प्राणोपासना को महत्त्व दिया है। साधना के लिए आवश्यक सब तरह का वीर्य और चारित्र्य-तेज प्राणोपासना से ही प्राप्त होता है। प्राणोपासक कभी कृपण नहीं होता, हीन-दीन होकर याचना नहीं करता। उसके लिए व्रत बताया गया है, 'महामना' बनने का।

प्राणोपासक को 'महामना' यानी उदारचेता बनना चाहिए, यही है उसका व्रत।

महाभारत में धर्मराज ने भी अपना अंतिम संदेश देते हुए कहा, "आप अपनी बुद्धि धर्म में स्थिर करें और इससे भी विशेष आपका मन महान् रहे। 'मनस्तु महत् अस्तु च।'"

यह बड़ा मन क्या वस्तु है, सोचना चाहिए। एक ही परिस्थिति में दो व्यक्तियों में पूरी-पूरी तटस्थता और न्यायबुद्धि होते हुए भी एक आदमी एक ढंग से पेश आयेगा, दूसरा दूसरे

ढंग से। एक कहेगा, "मैं इन्साफ का कायल हूं, प्रामाणिकता से चलना चाहता हूं, मेरे पास तनिक भी पक्षपात नहीं है, जो योग्य होगा, वही करूंगा।"

दूसरा कहेगा, "आपने जितना कुछ कहा है, सही है। जो योग्य होगा, वही करना है, लेकिन योग्य क्या है, उसे समझने के लिए केवल न्याय का तराजू काम का नहीं; मानवता का, प्रेम का, आत्मीयता का, सर्वोदय का तराजू हाथ में लेना चाहिए।" वह न्याय को समझता है, अन्याय कभी भी नहीं करेगा। लेकिन न्याय से भी परे दूसरे उच्च तत्व हैं, उन तत्वों को समझकर, उनका सहारा लेकर न्याय करेगा।

एक गड़रिया एक से दूसरे गांव को जा रहा था। रास्ते में उसकी भेड़ों ने किसी किसान के खेत में जाकर उसका सारा खेत नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। किसान ने सुलेमान के पास जाकर शिकायत की। सुलेमान न्यायी राजा था। उसने कहा, "किसान का कितना नुकसान हुआ है, इसका हिसाब करो। उस कीमत की भेड़ें किसान को दी जायं।" राज कर्मचारियों ने हिसाब लगाया। इतना कुछ नुकसान हुआ था कि गड़रिये को अपनी सब-की-सब भेड़ें देनी पड़ीं। बेचारा गड़रिया रोता-रोता न्याय-मंदिर से बाहर चला। राजपुत्र वहीं से जा रहा था। उसने सारा हाल पूछा। सुनने के बाद उसने पिता के पास जाकर कहा, "इस मामले में न्याय नहीं हो रहा है। क्या कभी न्याय किसी का सर्वनाश कर सकता है?"

न्यायपूर्ण सुलेमान को आश्चर्य हुआ कि मेरी न्यायप्रियता में भी नुक्स निकालनेवाला कोई निकला! राजपुत्र ने कहा, "न्याय तो करना ही है, लेकिन सर्वनाश के बिना करना

चाहिए।" उसने सुझाया, "गड़रिया अपनी सारी भेड़ें लेकर किसान के यहां जाकर रहे। भेड़ें खेत में बैठकर खेत को क़ीमती खाद देंगी। गड़रिया किसान के घर पर मजदूरी करके कुछ पैसा चुकायेगा। भेड़ों के बच्चे होंगे। वे भी किसान को दिये जायेंगे। इस तरह से किसान की नुकसान-भरपाई होने पर गड़रिया अपनी भेड़ें लेकर अपने रास्ते जा सकता है।"

राजपुत्र ने भी न्याय ही किया, किन्तु वह महामना था। उसके मन में सबके प्रति प्रेमभाव था। वह सबका कल्याण चाहता था।

इसलिए पुराण में भी कहा है, "हरएक मनुष्य न्याय पाने का हकदार है, लेकिन न्याय से भी बढ़कर है सबूरी और क्षमा।" भगवान न्याय को अपनी मंजूरी देता है, लेकिन भगवान को सबूरी और क्षमा ज्यादा प्यारी है।

महामना आदमी बुद्धिमान तो होता ही है, लेकिन साथ-साथ हृदयवान भी होता है। बुद्धि और हृदय मनुष्य-जीवन के दो पंख हैं। पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता, दोनों पंखों की आवश्यकता है।

हृदय का बड़प्पन तभी मनुष्य को प्राप्त होता है, जब वह दिन-पर-दिन अद्वैत की ओर बढ़ता है। अगर दो भाई लड़ते हैं तो बड़े हृदय का आदमी एक का पक्षपात नहीं करेगा—न्याय किस पक्ष में है, यह जानते हुए भी, दोनों को संभालने की कोशिश करेगा।

हमारे शास्त्रों में इस तत्त्व को 'सम' कहा है। उपनिषदों में ब्रह्मोपासक के बारे में कहा है कि वह "सर्वदा समः, सर्वेण समः" होता है।

२७ :: "महामना स्यात् तद्व्रतम्"

छांदोग्य उपनिषद में 'महामना' शब्द दो-तीन बार आया है। एक जगह उसका अर्थ अच्छा है। वहां बताया है कि मनुष्य को महामना बनना चाहिए। यही उसका व्रत बने।

दूसरी जगह श्वेतकेतु की बात आती है। वह अच्छे गुरु के पास बारह वर्ष रहकर सब विद्या प्राप्त कर महामना बना है। अपने को बड़ा पंडित समझकर स्तब्ध याने अभिमानी बना है।

यहां महामना का अर्थ अच्छा नहीं है। अपने को बड़ा समझनेवाला गर्विष्ठ, ऐसा ही अर्थ वहां अभिप्रेत है।

इस एक ही उपनिषद में यह शब्द आया है। एक जगह अच्छे अर्थ में, और दूसरी जगह कुछ विकृत अर्थ में। 'महामना' किसी का नाम भी होता होगा। आगे जाकर इसी शब्द की प्रेरणा से 'महात्मा' शब्द बनाया गया होगा। केवल मन से बड़ा नहीं, जिसकी संपूर्ण आत्मा महान है, उसीको हम महात्मा कहते हैं।

यह हो गया शब्द का अर्थ। उपनिषद ने इसके आगे जाकर आदर्श बताते सूचना दी है—"महामनाः स्यात् तद्व्रतम्।" मनुष्य महामना बनना चाहिए। यह उसका जीवन-व्रत ही बने।

हम समझते हैं कि धर्म के सब आदेशों में यह सबसे व्यापक आदेश है, दुनिया में भली-बुरी घटनाएं घटती हैं। असंख्य लोगों से संबंध आता है। सुख-दुःख के प्रसंग उपस्थित होते हैं। दूसरों के वचनों का अर्थ करके उसका भार स्वीकार करने की नौबत आती है। ऐसे सब प्रसंगों में ऋषिवचन कहता है, "मन बड़ा

बनाओ। जो भी अर्थ उत्तम हो, उसी को ले लो। त्याग करने का प्रसंग आ जाय तो कंजूस मत बनो। अगर तुमने कहीं भी अपेक्षा उत्पन्न की है और उस अपेक्षा के अनुसार चलना तुम्हारे लिए शक्य हो, योग्य हो, तो कभी मत कहो कि 'ऐसी अपेक्षा के लिए मैं जिम्मेदार नहीं हूं। मेरा आशय वैसा नहीं था।' तुम्हारा आशय कुछ भी हो, जो अपेक्षा तुमने उत्पन्न की और जो शुभ है, उसका पालन चाहे जितना कठिन हो, अपना मन उदार करके उस अपेक्षा का स्वीकार ही करो और उसकी पूरी ऊंचाई तक पहुंचने का संपूर्ण प्रयत्न करो।" यह है इस व्रत का भाव। और यही है उसकी प्रेरणा।

हम अपने को आर्य जाति का कहते हैं। आर्य होने का दावा करना और अभिमान रखना आसान है, लेकिन आर्यता के व्रत का पालन करना मामूली आदमी के लिए टेढ़ी खीर है। कठिन समय पर ही सच्चे और पूरे आर्यत्व की कसौटी होती है। ऋषि ने कहा, "महामनाः स्यात्" और इतना कहने के बाद उसी पवित्र आदेश को मजबूत करने के लिए भारपूर्वक कहा, "तद् व्रतम्।" इसको अपना व्रत समझकर पूरे अर्थ में इसका पालन करो। "तद् व्रतम्" शब्द में कितनी उत्कटता है, दृढ़ता है और ऊंचे चढ़ने की प्रेरणा है!

२८ :: आत्म-नाशक त्रिपुटी

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।
एतं ह वाव न तपति 'किमहं साधु नाकरवम् ।
किमहं पापमकरवमिति ।

(तैत्तिरीय उपनिषद २·९)

आश्रम के प्रारंभ के दिनों में मैंने अपने एक प्रवचन में कहा था कि दुनिया में तीन बड़े महत्त्व के प्रश्न हैं। एक आया है भगवद्गीता में :

"अथ केन प्रयुक्तोऽयम्
पापं चरति पुरुषः ?
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय
बलादिव नियोजितः ॥"

अर्जुन पूछता है कि इच्छा न होते हुए भी मनुष्य जो पाप का आचरण करता है, उसे मानो जबरदस्ती से ले जानेवाला प्रेरक तत्त्व कौनसा है, जिसकी प्रेरणा से लाचार होकर मनुष्य पाप की ओर प्रवृत्त होता है ?

दूसरा प्रश्न इसी मतलब का है, जो उपनिषद में आया है—"किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापं अकरवम्"—मेरे हाथों पाप क्यों होता है, मेरे हाथों सत्कर्म क्यों नहीं होता ?

और तीसरा महान प्रश्न है, जो नचिकेता ने यमराज से पूछा था, "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विधा मनुशिष्टस्त्वयाहं।" नचिकेता यमराज से पूछता है कि मनुष्यों के बीच मरे हुए आदमी के बारे में जो चर्चा

होती है और कुछ लोग कहते हैं कि मरण के बाद भी मनुष्य का, उसके व्यक्तित्व का, अस्तित्व कायम रहता है और दूसरे कहते हैं कि नहीं रहता है, इसके बारे में क्या सच है ? सो आपसे समझना चाहता हूं।

मृत्यु देहलीज-दीप की भांति इहलोक और परलोक के बीच खड़ी है। ऐहिक जीवन और पारलौकिक जीवन दोनों की ओर उसकी दृष्टि है, उसकी पहुंच है। इस वास्ते उसीसे पूछना चाहिए कि मरण के बाद मनुष्य की क्या अवस्था होती है ? मरण के बाद की अवस्था को या स्थिति को साम्पराय कहते हैं। उसके बारे में अगर कोई जानता है तो यह मृत्यु का स्वामी यमराज ही है। पहले दो सवाल हमारे जीवन के बारे में हैं और आखिरी सवाल जीवन के परे क्या है, उसके बारे में है।

अर्जुन के सवाल के जवाब में भगवान ने कहा, "मनुष्य को पाप की तरफ खींचने वाला जो महाशत्रु है, महापापी है और जो बड़ा ही पेटू है, वह है रजोगुण से पैदा हुआ। उसके दो रूप और दो नाम हैं। जब आता है तब कामवासना के रूप में आता है, जब बिगड़ता है तब क्रोध का रूप धारण करता है। उसी की प्रेरणा से मनुष्य सब पापों की ओर प्रवृत्त होता है।"

और पाप करके क्षीण-सत्व होते ही मनुष्य को अनुताप होता है कि मेरे हाथों पाप ही क्यों होता है, मैं पुण्य क्यों नहीं करता ? यह अनुताप, यह पश्चात्ताप मनुष्य के हृदय को कुरेदकर खा जाता है।

इस काम-क्रोधरूपी शत्रु पर विजय पाने की शक्ति मनुष्य में तबतक जाग्रत नहीं होती, जबतक वह आत्मा का साक्षात्कार न करे। जब मनुष्य ने आत्मा का साक्षात्कार किया और उससे

मिलने वाले आनंद को जाना, उसका अनुभव किया, तब वह निर्भय होता है। उसे कहीं से भी भय नहीं रहता। काम-क्रोध उसे परास्त नहीं कर सकते और फिर उसके हृदय का विषाद और अनुताप होता है कि मैं पुण्य क्यों नहीं करता और पाप ही करता हूं।

उन दिनों महात्माजी के पास काफी समय था। मेरे प्रवचन के बाद उन्होंने मुझसे कहा कि ये तीन प्रश्न फिर से कहो और कहां-कहां हैं, यह भी बताओ। महात्माजी से इस प्रश्न को मैं उनका एक बहुत बड़ा अनुग्रह मानता हूं। उनके पूछने से मेरा ध्यान इन प्रश्नों की ओर अधिक गया और गहराई से मैं उनका चिंतन करने लगा।

क्यों मेरी पाप की तरफ प्रवृत्ति आसानी से होती है और साधुकर्म—पुण्यकर्म की ओर इतना आलस्य, इतनी शिथिलता क्यों होती है, यह अनुताप या विषाद हरएक मनुष्य के मन में उठता है।

उसका पृथक्करण मिलने के बाद मनुष्य काम-क्रोध और उसके तीसरे साथी लोभ को पहचानने लगता है। वह जानता है कि यह तीन पहलू का दरवाजा है, जो इतना आकर्षक है कि मनुष्य लाचार होकर उसकी ओर दौड़ता ही जाता है और एक बार उसमें प्रवेश किया तो मनुष्य चला नरक की ओर, आत्म-नाश की ओर :

"त्रिविधं नरकस्येदं
द्वारम् नाशनम् आत्मनः।
कामः क्रोधः तथा लोभः
तस्मात् एतत्त्रयं त्यजेत्।"

आत्मा का नाश करनेवाली इस त्रिपुटी को टालना ही चाहिए। लेकिन वह कैसे हो ?

उपनिषद्कार कहते हैं कि आत्मशक्ति को पाने से ही। सूरज उगा तो अंधकार आप-ही-आप नष्ट होता है। आत्म-साक्षात्कार हुआ, उसका आनंद हमने चखा, तो तुरन्त काम-क्रोध, लोभ आदि सब शत्रुओं का भय दूर हो गया।

२६ :: शांडिल्य विद्या

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुः अस्मिन् लोकेपुरुषो भवति तथा इतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।"

(छांदोग्य ३-१४-१)

उपनिषदों में शांडिल्य-विद्या महत्त्व की है। उसी में से यह वचन है। यह सारा विश्व, ब्रह्म ही है। उसकी उपासना करते शान्त होकर सोचना चाहिए कि इस ब्रह्म से ही सबकुछ पैदा होता है। अंत में सबकुछ उसी में विलीन होता है। मनुष्य जबतक जीता है, उसी के द्वारा सांस लेता है। ऐसा समझकर मनुष्य को संकल्प करना चाहिए कि यह पुरुष, आत्मा या व्यक्ति क्रतुमय है, संकल्पमय है। इस जन्म में जैसा वह संकल्प करता है, वैसा ही जन्म मृत्यु के बाद उसे मिलता है। इसलिए सोच-समझकर शान्त मन से मनुष्य को संकल्प करना चाहिए।

संकल्प बड़ी तेज वस्तु है। बड़ी खतरनाक हो सकती है, और उद्धारक भी हो सकती है। मनुष्य का संकल्प सर्व-समर्थ वस्तु

है। अगर उससे हल नहीं निकलता तो उसका मुख्य कारण यही है कि मनुष्य अपने संकल्प में एकाग्र नहीं होता। उसके दूसरे-दूसरे संकल्प मुख्य संकल्प को कमजोर करते हैं। अगर एकाग्र होकर, अपनी पूरी शक्ति लगा कर, मनुष्य संकल्प करे तो उससे ऐसा कुछ तेज आंदोलन शुरू होता है कि जिसके कारण संकटों के पहाड़ भी टूट जाते हैं।

हमारे यहां ऐसे तत्व-चिन्तक हुए हैं, जो कहते हैं कि कर्म ही आत्मा है। कर्म करने के संकल्प को 'ऋतु' कहते हैं। 'ऋतु' शब्द ग्रीक 'क्रेटोस' से मिलता-जुलता है। ग्रीक भाषा में क्रेटोस के मानी होते हैं शक्ति, पावर। 'क्रतु' है कर्म करने को शक्ति यानी संकल्प-शक्ति। इस संकल्प-शक्ति से मनुष्य का व्यक्तित्व, उसकी पर्सनैलिटी तनिक भी भिन्न नहीं है। मनुष्य ने इस लोक में जैसा संकल्प किया, वैसा ही रूप, वैसा ही जन्म, उसे मरने के बाद मिलता है।

कठोपनिषद में जब नचिकेता यमराज से पूछता है कि मरने के बाद आत्मा का क्या होता है, मरणोत्तर स्थिति कैसी होती है तब यमराज कहते हैं, "मृत्यु के बाद मनुष्य को नया जन्म मिलता है, उसका स्वरूप यथाक्रम यथाश्रुतम् होता है। जैसा कर्म इहलोक में आदमी करे, इस जन्म में करे और जैसा उसका ज्ञान-संचय हो, श्रुतम् हो, वैसा जन्म उसे मिलेगा।"

उपनिषदों में दूसरी जगहों पर यथाक्रम, यथाश्रुतम् के साथ यथाप्रज्ञम् का भी उल्लेख है। जैसी मनुष्य की प्रज्ञा, जैसी उसकी ज्ञानराशि, श्रुतम् और जैसा उसका क्रम, वैसा उसको नया जन्म मिलता है। वही चीज इस शांडिल्य-विद्या में बताई है कि मनुष्य ऋतुमय है। यथाऋतु उसे नया जन्म मिलता है। इसलिए संकल्प

करते चित्तवृत्ति को शान्त करना चाहिए और बाद में शुभवृत्ति को लेकर प्राणवान संकल्प करना चाहिए, ताकि वह अविद्या को पार करके अधिक ताजा और अधिक कल्याणकारी रूप प्राप्त करे। -

"अविद्यां गमयित्वा अन्यत् नवतरम कल्याणतरम् रूपम् कुरुते।"

३० :: साधना : प्राथमिक और अंतिम

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥
(मुक्तिकोपनिषत् अ० २।५-६)

आत्मा-परमात्मा का ब्रह्मज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक है, लेकिन साधना का प्रारंभ तो नैतिक क्षेत्र से ही होना चाहिए। मनुष्य के शरीर में इन्द्रियां हैं। उनकी भूख हमेशा जागृत रहती है। उसी को वासना कहते हैं। वासना अच्छे रास्ते भी जा सकती है और बुरे रास्ते भी जा सकती है। 'साधना का प्रारंभ' इस बात में है कि हम वासना को बुरे रास्ते न जाने दें। उसे अच्छे रास्ते जाने के लिए ही प्रोत्साहन दें।

यह काम केवल इच्छा से अथवा केवल प्रार्थना से नहीं हो सकता। इसके लिए तो बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। मन को काबू में लाना, उस पर विजय पाना, बच्चों का खेल नहीं है। दुनिया के साथ लड़ना आसान नहीं है, तोभी थोड़े से प्रयत्न

से दुनिया के विरुद्ध लड़कर विजय पा सकते हैं, लेकिन अपने ही मन के साथ लड़ना लोकोत्तर पुरुषार्थ का काम है।

इसलिए ऋषि कहते हैं :

"मनुष्य की वासना मानो एक नदी है (सरित्)। वह शुभ रास्ते भी जा सकती है अथवा अशुभ मार्ग भी ले सकती है। यह स्थिति पहचानकर अपने पुरुषार्थ से (पौरुषेण प्रयत्नेन) उस नदी को शुभ प्रवाह में बहाना चाहिए।"

यह है प्राथमिक साधना। आगे जाकर मोक्ष की अंतिम साधना का वचन जब आता है तब वासना के प्रवाह को ही रोकना पड़ता है। शुभ और अशुभ, दोनों प्रवाह छोड़कर मन को वासनाशून्य बनाना पड़ता है। वह है आगे की साधना। प्रारंभिक अवस्था के लिए भगवान रामचंद्र अपने भक्त मारुति से कहते है :

"शुभायां वासनावृद्धौ न दोषाय, मरुत्सुत !"

(अ. २।६)

सारी शक्ति अपने को काबू में लाने के लिए ही खर्च करनी चाहिए। इसमें कितना और कैसा प्रयत्न करना चाहिए इसकी कल्पना देने के लिए अपने साथ कैसे लड़ना, इसका वर्णन एक सुंदर श्लोक में दिया है :

"हस्तं हस्तेन संपीड्य, दन्तैः दन्तान् विचूर्ण्य च।
अंगान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥"

(अ. २।४२)

लेकिन यह काम जबरदस्ती नहीं हो सकता। बड़ी खूबी से करना पड़ता है।

इसमें सफलता प्राप्त होने के बाद ऋषि कहते हैं कि वासना

का प्रवाह (ओघ) शुभ रास्ते जाता हो तो भी उसको काबू में लाकर रोकना ही चाहिए। शुभ है, इस वास्ते वह पाप की ओर नहीं जायेगा, इतना लाभ जरूर है, लेकिन शुभवासना भी बंधन तो है ही। इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए।

"शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना।"

(अ. २।३२)

इसका अर्थ यह नहीं कि सत् कर्म करना भी छोड़ देना चाहिए। सत्कर्म करें जरूर, लेकिन केवल कर्तव्य-बुद्धि से करें, वासना की प्रेरणा से नहीं। तब सारा कर्म मोक्ष की साधना बनता है। चित्तनाश होने के बाद मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इन शुभवृत्तियों से सत्कर्म करते ही रहना चाहिए। शुद्ध मनन चिंतन करने पर वासना का आत्यंतिक लय होता है।

"सम्यक् आलोचनात् सत्यात् वासना प्रविलीयते।"

(अ. २।१७)

सम्यक् आलोचना याने 'शुद्ध-चिंतन' इसको ऋषि ने सत्य कहा है। सत्य के अनेक अर्थों में एक यह अर्थ भी ध्यान में रखना चाहिए।

३१ :: एक प्राचीन संकल्प

इह चेद् अवेदीत् अथ सत्यं अस्ति, न चेद् इह अवेदीत् महती विनष्टिः।

भूतेपु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्य अस्मात् लोकात् अमृताः भवन्ति ॥

(केनोपनिषद मंत्र-१३)

सागर वेष्टित भूमि पर हम रहते हैं। हमारे इर्द-गिर्द पंच-महाभूत फैले हुए हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश से बनी हुई यह सृष्टि हम देखते हैं, अनुभव करते हैं, इसका रहस्य समझना चाहते हैं।

आकाश में सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे विराजमान हैं। इनका रहस्य ढूंढ़ते ज्योतिषशास्त्र ने इसकी विशालता समझायी है। यह सब सुनकर हम चकित हो जाते हैं। हम कह नहीं सकते कि यह अद्‌भुत विश्व शान्त है या अनंत है।

अब हम दूसरी दृष्टि से सोचें।

हम इस शरीर में रहते हैं। हमारे जैसे असंख्य मानव और मानवेतर प्राणियों को हम देखते हैं। ये सब अपने-अपने ढंग से इस विशाल विश्व को देखते हैं, उसका अनुभव करते हैं। क्या ये सब प्राणी इस विश्व के रहस्य को समझना चाहते होंगे?

हमारा शरीर अपनी इन्द्रियों के द्वारा इस सृष्टि का अनुभव करता है। इन इन्द्रियों की मदद से वह सोचने लगता है। सोचने के लिए उसके पास मन है, बुद्धि है, भावनाएं हैं, रसिकता है, नीति-नियमन का विचार उसके चित्त में जागृत होता है। यह सारी अंतःसृष्टि क्या है? मन, बुद्धि, भावना आदि चित्त की शक्तियां मर्यादित है या अमर्याद है? इस अंतःसृष्टि का रहस्य क्या है?

जब ऐसे गूढ़ प्रश्न मन में उठते हैं तब विश्वास होता है, "जब प्रश्न उठते हैं तब उन प्रश्नों का जवाब ढूंढ़ने की शक्ति

भी हमारे अंदर होनी ही चाहिए।"

फिर हृदय के अंदर काम करने वाली श्रद्धा कहती है कि बाह्य सृष्टि का रहस्य जिन साधनों के द्वारा हम ढूंढ़ रहे हैं, उन्हीं साधनों के द्वारा हम अंत:सृष्टि का रहस्य भी ढूंढ़ सकेंगे।

हमारे चित्त ने पूरा प्रयत्न करके आंतर बाह्य दोनों सृष्टियों का रहस्य ढूंढ़ने का संकल्प किया।

तब ऋषि का मन उसे समझाता है कि सब प्राणियों में क्या-क्या शक्ति है, हम नहीं जानते। पता नहीं, कितने जन्म के बाद सोचने की शक्तिवाला यह मनुष्य-जन्म हमें मिला है। यह स्पष्ट लगता है कि अगर इस जन्म में हमने उभयसृष्टि का रहस्य जान लिया, अनुभव कर लिया, तो हम जीते, हम कृतार्थ हुए। हमारा जीना सत्य हो गया। लेकिन अगर इस जन्म में हमने अपने जीवन का रहस्य नहीं मालूम किया तो वह एक 'महान विनाश' ही होगा।

कितनी बड़ी आशा से और कितने जोरों से ऋषि ने यह संकल्प किया है और इसी को सिद्ध करने के लिए अपने को समझाया है। उपनिषद के ऋषि ने अपने जैसे तत्त्व-जिज्ञासु समस्त मानवों के लिए यह संकल्प किया है। यही है इसका महत्त्व।

३२ :: ॐ तत् सत्

उपनिषदों के चिंतन से जो बोध अथवा सिद्धान्त फलित

होते हैं, उनको जिन थोड़े शब्दों में याद रखा जाता है, उन शब्दों को महावाक्य कहते हैं (जिस तरह विशाल धन, छोटे-छोटे रत्नों में संग्रहीत हो सकता है, इसी तरह उपनिषद का सारा चिंतन, उसके सिद्धान्त और उसकी साधनाएं महावाक्यरूपी शब्दरत्नों में संग्रहीत हो सकी हैं।

ऐसा एक महावाक्य छांदोग्य उपनिषद में पाया जाता है 'ॐ तत् सत्' (ऐसे महावाक्यों का संग्रह करके अगर उनपर नये ढंग से विवेचन लिखा जाय तो उसमें सारी उपनिषदविद्या व्यवस्थित रूप में आ जायेगी।)

ऐसा ही एक महावाक्य हमें केनोपनिषद में मिला था। 'तद्वनम्' जो कहता है कि ब्रह्म के शुद्ध, सर्वसंग्राहक रूप को पूर्णतया पहचानने के बाद 'उसी के प्राप्ति की, साक्षात्कार की, अनुभव की इच्छा रखनी चाहिए।'

उस महावाक्य का चिंतन करते हमने दूसरे दो महावाक्य भी लिये थे। एक था 'तद् जलान' (तत् ज, तत् ल, तत् इन) इन तीनों को एकत्र करके तद् जलान सूत्र बनाया गया।

ऐसा ही दूसरा वाक्य है 'तत्वमसि'। वह परब्रह्म तत् तुम त्वम् ही हो असि।

छांदोग्य उपनिषद ने प्रारंभ ही किया है ॐकार अथवा प्रणव से। (वहां ओंकार को उदगीथ कहा है।)

ओंकार ही सब वेदों का रस अथवा सार है। इसलिए उसे 'रसानाम रसतमः' कहा है।

ॐ का सामान्य अर्थ होता है 'जीहां।' किसी ने पूछा, "क्या आपका नाम राम है ?" तो वह कहेगा, "ॐ" (याने आपकी बात सही है। लोग मुझे राम ही कहते हैं।) किसी ने

पूछा, "आपने हमारी यात्रा में साथ आने का निश्चय किया है ?" तो वह कहेगा, "ॐ।" इस तरह से मतैक्य, अनुकूलता बताने के लिए ॐ शब्द का व्यवहार होता था। (इसके विरुद्ध शब्द था 'न', याने 'नहीं जी।'

इस तरह सत्यता, अनुकूलता, मतैक्य आदि सारे शुभभाव ॐ शब्द के द्वारा व्यक्त होते थे। बाद में ॐ शब्द में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का अंतरभाव होने लगा। ॐ में सब चीजें आ जाती हैं।

उपनिषदों में पुराना 'माण्डयुकोपनिषद' ओंकार के लिए ही दिया गया है। "ॐ इति इदं सर्व, भूतं, भवत्, भविष्यत्, इति सर्वम् ओंकार एव। यत् च अन्यत् त्रिकालातीतम् तद् अपि ओंकार एव।"

साधना चलाते हम देख सके कि "इस सारे विश्व का आकलन करने वाले हम हैं। समस्त ज्ञान और अनुभवों का अनुभव करने वाले हम ही हैं। इस दृष्टि से हमारे अनुभव की समस्त सृष्टि का केन्द्र हम ही हैं। इसलिए हमें इस हम को शुद्ध रूप से पहचानना चाहिए। हम नहीं होते तो हमारे लिए यह सृष्टि भी नहीं होती।

इस 'हम' को पहचानने की साधना करते हमने पा लिया कि, "यह कहते-कहते हम अपना अहंकार बढ़ाते हैं, स्वार्थ बढ़ाते हैं, एकांगी बनते हैं और फिर सारी सृष्टि का लोभ करते हैं।" सचमुच तो हमारा हम, हमारे शरीर से, शरीर की इन्द्रियों से, मन और बुद्धि से परे है। इतना ही नहीं, हम अहंकार से भी परे हैं। इस तरह से हम आत्मा तक पहुंच गये और हमने देखा कि आत्मतत्व कालातीत है। उसे जन्म-मरण नहीं है। इतना ही

नहीं, किन्तु भले ही उसका केन्द्र हमारे मन-बुद्धि में हो, हमारा सच्चा आत्मतत्त्व विश्वव्यापी है और वह तो सर्वव्यापी, सार्वभौम ब्रह्म ही हो सकता है। इस तरह आत्मा और परमात्मा एक हो गये।

फिर तो अहंकार के लिए जगह ही न रही। 'साधक सिद्ध हुआ' और गाने लगा, "अहं ब्रह्मास्मि' सर्वोहं।"

तब उसने परब्रह्म को भी ॐ नाम दे दिया, और अहं ब्रह्मास्मि का अनुभव करते बोल उठा कि कितना आसान है। हम अपने को अहम् कहते थे। अब अपने को 'ॐ' कहेंगे। अहम् थे, 'ॐ' बन गये। अहम् का नाश हो गया और वह ॐ में विलीन हो गया। हमने अपने को समझाया, "हे मेरे आत्मा ! इस सारे विश्व में तुम परमात्मा को, परब्रह्म को देख सके, वही तत्त्व तुम्हारे अंदर भी है। वही तत्त्व तुम भी हो।"

हमने अपने को जो परमतत्त्व समझाया, वही तीन शब्दों में ग्रथित हो गया, 'तत् त्वं असि' वह तुम ही हो। तुम ही परब्रह्म हो।

इस तरह उपनिषदों के चिंतनों का सार ही ऋषियों ने पाया।

बाद में ऋषियों ने ध्वनि का पृथक्करण करके तीन विभाग किये अ, उ, और म। अ याने ब्रह्मा। उ याने विष्णु और म याने शिव। इसी तरह जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्था भी ओंकार से व्यक्त होने लगी। यह सारा विस्तार माण्डूक्य उपनिषद में पाया जाता है।

आज हम इतना ही याद रखें कि हम अहम् थे, सो ओम् बन गये। और दोनों के ऐक्य का हमें साक्षात्कार हो गया है।

जीव असल में शिव ही है, सो भूल गया था, वह अज्ञान दूर हो गया और उसे विश्वात्मैक्य भाव का संपूर्ण आनन्द मिल गया।

३३ :: अस् पर से असत् यानी आदिम सत्य

कहते हैं, 'सत्' शब्द अस् धातु पर से आया है। अस् याने होना। मराठी में भी अस् अथवा असणें धातु है, जिसका अर्थ है होना। इस अस् धातु में से 'अ' कैसे निकल गया और 'त्' कैसे आया, सो ढूंढ़ना पड़ेगा। लेकिन जो हमेशा के लिए है, वही है सत्, इस वास्ते अस् और सत् के बीच घनिष्ठ संबंध हो ही सकता है, इसमें कोई शक नहीं।

इस सत् को य प्रत्यय लगाने से सत्य शब्द बनता है। (य प्रत्यय स्वार्थी है।)

अब सत्य शब्द का अर्थ बताते हुए चंद लोगों ने सत्य के तीन अक्षर स् त् और य के तीन अर्थ बताये हैं। 'स' याने अमृत, जिस चीज का कभी नाश होता नहीं। 'त्' याने जो मरणशील है; बदल जाती है। इसलिए जो 'नहीं' है, उसे त् कहा जाय और 'य' याने जो 'स' और 'त' दोनों पर अपना काबू रखता है।

इस तरह से सत्य शब्द का पूरा भाव बताने के लिए कृत्रिम अर्थ बताया है! इसे केवल समझकर हम एक ओर रख दें।

अब सत् अथवा सत्य को अ उपसर्ग लगाकर 'असत्' अथवा 'असत्य' जैसे बनाये गये। जिसमें सत् अथवा सत्य का अभाव है उसे असत्य कहते हैं। 'अ' का अर्थ 'अभाव' है ही।

इस उपसर्ग को लगाकर 'अभाव' बतानेवाले असंख्य शब्द बनाये जाते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद में एक वचन आता है असतो सत् जायत, अथवा, असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सत् आजायत। इसका सीधा अर्थ होता है, सबसे पहले सचमुच यह असद् ही था। इस असद् में से सत् पैदा हुआ। ऐसा सीधा अर्थ मान्य करते बड़ा संकोच होता है। असद् याने शून्य। शून्य में से सत् पैदा हुआ। ऐसा अर्थ हम कैसे मान्य करें? दार्शनिकों ने कहा है कि जिसे हम सत् कहते हैं, वह तो हमारी चेतना में (समझ में), आ सकता है, लेकिन इसके भी पहले एक अस्तित्व है, जिसके लिए न रूप है, न गुण, न क्रिया। इसलिए उसके होते हुए भी वह ध्यान में नहीं आ सकता। गाढ़ निद्रा में हमें भान नहीं होता कि हम सोये हुए हैं। वह तो केवल गाढ़ निद्रा ही है। इसी तरह आत्मा भी है, किन्तु ध्यान में नहीं आ सकता। सत्य के पहले रूपगुण क्रियारहित जो परम और आदिम सत्य है, उसी को उपनिषदों में असद् कहा है।

अब मेरा कहना है कि उपनिषद में सद् के पहले का असद् बताया है, वह स्वतंत्र स्वयंभू शब्द है। सद् को अ उपसर्ग लगाकर यह असत् नहीं बनाया गया है, किन्तु जब अस् धातु में से सद् बनाया गया तब उसमें से अ न हटाकर असद् शब्द बनाया गया। इस तरह परम, आदिम सद् का अपना नाम असद् पर से आया हुआ यह शब्द है। इस असद् में से अपना अ निकालकर सद् बनाया गया, जो हमारी चेतना का विषय है।

ऊपर दिए हुए उपनिषद-वचन में जो असद् वचन दिया है, वह सद् को अ का उपसर्ग लगाकर नहीं, किन्तु इस धातु का

'अ' अक्षर कायम रखकर, जो मूल में असद् शब्द बन गया, वही यहां पर उपनिषदकार ने दिया है। यह है मेरा मौलिक सुझाव। इस दृष्टि से सब कुछ सीधा बन जाता है।

३४ :: सार्वभौम एकाक्षरी मंत्र ॐ

भारतीय संस्कृति में 'ॐ' शब्द और ध्वनि अत्यंत पवित्र माना गया है। प्रारंभ में जिसका उपयोग अनुकूलता बताने के लिए होता होगा। "क्या आपका नाम यही है?" क्या आप हमारे साथ आयेंगे?" ऐसे सवालों में अनुकूलता दिखाने के लिए 'ओम' ऐसा ही जवाब दिया जाता था। 'ॐ' याने "हां" "जी हां"।" कितना मीठा और प्रसन्न करने वाला ध्वनि है यह। एकदम दोनों में अनुकूलता पैदा करता है। प्रतिकूलता नहीं। अनास्था नहीं। पूरी-पूरी अनुकूलता दिखाने वाला यह ध्वनि सर्वप्रिय बन जाय तो आश्चर्य ही क्या?

आगे जाकर हमारी संस्कृति के निर्माणकर्ताओं ने अपने नित्य के ध्यान में देखा कि जिस सविता या सूर्य को हम भगवान का प्रतीक मानते हैं, वह सूर्य जब अपने ही आसपास घूमता है और आकाश में दौड़ता है तब उसमें से 'ओऽऽऽऽम्' ऐसा ध्वनि निकलता है।

यह ध्वनि सुनकर योगियों को प्रसन्नता हुई और वे भगवान को प्रणाम करते समय भी 'ॐ' कहने लगे। 'ॐ' के द्वारा ही स्तुति व्यक्त होने लगी। सुबह या किसी भी समय प्रकाश

देनेवाले, उष्णता देनेवाले और सब तरह का प्राण देनेवाले भगवान सूर्य का दर्शन होते ही भक्त लोग अपना सिर झुकाकर 'ॐ' कहने लगे।

रात को अनंत तारे देखकर भी आप-ही-आप मुंह से 'ॐ' के द्वारा भक्ति का आनंद प्रकट होने लगा।

फिर तो आत्मा के लिए भी संत लोग 'ॐ' कहने लगे। परमात्मा का नाम भी 'ॐ' हो गया।

अब इस 'ॐ' ध्वनि के लिए कुछ नाम तो देना चाहिए। तो भक्त लोगों ने 'ॐ' ध्वनि को ही 'प्रणव' नाम दे दिया। भक्ति का प्रकर्ष दिखानेवाले नमस्कार को व्यक्त करने वाले ध्वनि को 'प्रणव' नाम कितना अच्छा है।

ऐसे नमस्कार का जब पूरे उत्साह से गाये जाने वाला गीत बना तब भक्तों ने प्रणव को 'उद्गीथ' कहना शुरू किया। उत्साह से, उच्च आवाज से जो गाया जाता है, उसको हम उद्गीथ ही कहेंगे न ?

यह प्रणव अथवा उद्गीथ हमारे मंत्र-शास्त्र में सबसे श्रेष्ठ और सब भाव व्यक्त करने वाला मंत्र होने से, सब मंत्रों के प्रारंभ में 'ॐ' बोला जाता है। बौद्धों ने और जैनों ने भी इस 'ॐ' को स्वीकार किया। (बौद्धों का मंत्र 'ॐ' मणि पद्मे हुम्' सब जानते ही हैं।)

"जी हां", इतनी अनुकूलता दिखाने के लिए जैसे हम 'ॐ' बोलते थे, वैसे ही तमिल बोलने वाले लोग "जी हां" कहने के लिए 'आमा' कहते है। 'आमा' 'ॐ' का ही एक रूप है।

'ॐ' में अ उ और म् ये तीन ध्वनि हैं। उनका महत्त्व समझना पड़ा तो अ ब्रह्मा के लिए। उ विष्णु के लिए। और म

महेश्वर शिवजी के लिए पसंद किए गए। त्रिलोक, विद्यात्रयी, आदि जहां-जहां तीन चीजें एकत्र होने लगीं, वहां पर 'ॐ' की ही मदद लेना शुरू हो गया। इस तरह 'ॐ' में सारा विश्व और उसकी व्यवस्था समा गयी।

अब 'ॐ' कहते ही हमारे अध्यात्म के, हमारी पूजा के और हमारी संस्कृति के सब तत्व उसमें व्यक्त होते हैं। कितना भाग्य है, इस ध्वनि, और एकक्षरी मंत्र का कि वह अपने द्वारा हमारी संस्कृति के उत्तमोत्तम पवित्रतम तत्त्व को व्यक्त करने का सामर्थ्य धारण करता है।

३५ :: महर्षियों द्वारा प्रदत्त समाज-व्यवस्था

उपनिषद में दस, ग्यारह, तेरह या अठारह उपनिषद मुख्य हैं। शेष गौण गिने जाते हैं। इन गौण उपनिषदों में भी तीस कुछ महत्त्व के हैं।

सीतोपनिषद इन तीस में भी नहीं आता। लेकिन उसमें एक वचन मुझे अत्यंत महत्त्व का लगा।

"धर्मशास्त्रं महर्षिणां अंतःकरण-संभृतम्।"

अर्थात्, जिसे धर्मशास्त्र कहते हैं, वह तो महर्षियों के अंतःकरण में इकट्ठा होता है।

उपनिषद और ब्रह्मसूत्र दोनों दर्शनशास्त्र माने जाते हैं। इनमें आत्मा, परमात्मा, मन, इन्द्रियां और यह सारा विश्व, इनका परस्पर संबंध और हरएक का रहस्य बताया जाता है।

इसी को ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मविज्ञान भी कहते हैं।

इस तरह, दर्शनशास्त्र में तत्त्वज्ञान आता है। धर्मशास्त्र में प्रधानतया समाज-व्यवस्था पायी जाती है। कुल-धर्म, जाति-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, अनुलोम-प्रतिलोम-जातियां इत्यादि सारी-की-सारी समाज-व्यवस्था धर्मशास्त्र में पायी जाती है।

धर्मशास्त्र का प्रारंभ होता है गृह्यसूत्रों से, लेकिन उसका प्रधान ग्रंथ है मनुस्मृति। उसके बाद आती है याज्ञवल्क्यस्मृति। ऐसी स्मृतियां भी अनेक हैं।

माना जाता है कि वेद, उपनिषद, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, स्मृतियां आदि सब ग्रंथ ईश्वरप्रणीत हैं। लेकिन वेद और उपनिषद ही प्रधानतया ईश्वर की वाणी गिनी जाती है।

तब ये धर्मशास्त्र के अनेकानेक ग्रंथ आये कहां से ? सीतोपनिषद कहता है कि अध्यात्म का चिंतन करते-करते मन बुद्धि का, सारे विश्व का, आत्मा-परमात्मा, सारा रहस्य जिन्होंने पाया है, तपस्या और ध्यान-धारणा के द्वारा, इस रहस्य के साथ जो लोग एकरूप हो गये, उनको 'महर्षि' कहते हैं।

ऐसे महर्षि समाज में प्रचलित कुलधर्म, जातिधर्म आदि देखकर उन पर अपना अध्यात्म, ज्ञान का प्रभाव डालना चाहते हैं।

लोगों में परंपरागत जो रूढ़ियां चलती हैं, उन्हीं में जरूरी परिवर्तन करके ये महर्षि धर्मशास्त्र बना देते हैं। अध्यात्म-परायण समाज की रचना आखिरकार कैसी होनी चाहिए, इसका विचार करके परंपरागत रूढ़ियों में आहिस्ते-आहिस्ते परिवर्तन करने का उन्हें सूझ आता है। वही बनता है हमारा धर्मशास्त्र।

अब सवाल उठता है, धर्म किसे कहें ? धर्म की व्याख्या कहती है :

"धारणात् धर्मम् इति आहुः
धर्मो धारयते प्रजाः ।"

सारे समाज को जो एकत्र रखता है, प्रजा को जो धारण करता है, वही है धर्म याने समाज-व्यवस्था ।

"यत् स्यात् धारणसंयुक्तम्
स धर्म इति निश्चयः ।"

समाज का धारण, भरण, पोषण और उत्कर्ष जिसके द्वारा होता है, वही है धर्म ।

ऐसी समाज-व्यवस्था भगवान की प्रेरणा से नहीं, किन्तु प्रजाजीवन की परंपरा में से शुरू होती है । उसे देखकर महर्षि उसे व्यवस्थित करते हैं और मानते हैं कि धर्म का आदर्श अगर तत्वतः समाज-मान्य हुआ तो समाज-व्यवस्था उस आदर्श के अनुसार धीरे-धीरे सुधरती जायेगी ।

इतना ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी समाज-व्यवस्था शुरू से ऋषियों ने नहीं बनायी है । भिन्न-भिन्न जमातें एकत्र आयीं, तब उन्होंने अपनी-अपनी अलग जाति-व्यवस्था बनायी । एकत्र आने के बाद कितना अलग रहना और कितना ओत-प्रोत हो जाना, इसका निर्णय उस-उस समय के जाति के नेताओं ने किया होगा । इस निर्णय में हरएक जाति के धर्म-विचार का ख्याल नेताओं ने किया ही होगा । मैं नहीं मानता कि भिन्न-भिन्न जाति-धर्म ऋषियों ने बनाये थे । जैसे मिले, वैसे ऋषियों ने चलाये ।

ऋषियों के धर्म-विचार में अध्यात्म की प्रधानता थी;

लेकिन वह अध्यात्म विचार सामाजिक बनाने की उत्कंठा ऋषियों में दीख नहीं पड़ती। ऋषियों ने जातियों के बीच प्रचलित उच्च-नीच-भाव मान्य रखा। भिन्न जातियों के बीच रोटी-व्यवहार और बेटी-व्यवहार की मर्यादा भी मान्य कर ली।

ये जातियां कहीं एक-दूसरे में मिल गईं, कहीं थोड़ी मिलीं, थोड़ी अलग रहीं।

सबके-सब समाज संगठन वेदान्त की दृष्टि से बन जाते तो अच्छा होता। अलगाव एक सामाजिक कमजोरी है, इस ओर ऋषियों ने ध्यान दिया, नहीं दीख पड़ता। विश्वात्मैक्यभाव केवल ध्यानचिंतन में रहा। विश्वात्मैक्यभाव अगर समाज-व्यवस्था में और राजनैतिक संगठन में दाखिल न हो सका तो वह बड़ी कमजोरी है। इस ओर भी ऋषियों ने ध्यान नहीं दिया। माना जाता है कि छोटे-बड़े राजाओं का, आपस में युद्ध करते रहना अनिष्ट है, इतना तो ऋषियों ने देख लिया। इसके इलाज के रूप में उन्होंने राजाओं को साम्राज्यवाद सुझाया। सेना-बल के द्वारा जो सबसे ज्यादा ताकतवाला हो, वह सम्राट बने। बाकी के सब-के-सब जितराजे सम्राट के इर्दगिर्द मण्डल में बैठ जायं (याने माण्डलिक बने), और सब मिलकर, साम्राज्य की व्यवस्था चलावें। यह रचना शान्ति के लिए अच्छी थी, किन्तु आदर्श की दृष्टि से वह अत्यंत सदोष थी।

जो हो, ऋषियों ने उनको जैसा सूझा, समाज को सुझाया। उनकी व्यवस्था में जो दोष थे, उनके कारण समाज कमजोर बने और आजादी खो बैठे। यह सब बाद की बात है।

३६ :: मानव-जाति के लिये हमारी सर्वोच्च प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर् मा (अ) मृतंगमय ।

(बृ० १-३-२९)

इस मंत्र का अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। "हे भगवान ! मुझे असत् से सत्य की ओर ले चलो। तमस याने अंधकार (अज्ञान) से ज्योति याने प्रकाश की ओर ले चलो और मृत्यु से बचाकर मुझे अमृत की ओर ले चलो।"

असत्, अंधकार और मृत्यु ये तीनों हमारे जीवन को घेरे हुए अशुभ तत्त्व हैं। इनसे हमें बचाने में (याने इनको टालने के लिए जबरदस्त साधना चलाने में) भगवान ! मुझे मदद दे दो। यही है हमारी सनातन प्रार्थना।

इसमें तीसरी प्रार्थना समझने से तीनों का भाव स्पष्ट होता है।

मृत्यु तो जीवन के साथ जुड़ा हुआ है ही। पुराणों में जिनको चिरजीवी कहा है, वे भी मर गये। जिसने जन्म लिया, उसे मरना ही है, और अगर हम जीवन का रहस्य बराबर समझें तो जीवन को ताजा रखने के लिए और जीवन को सनातन प्रयोग-शील बनाने के लिए, मृत्यु अत्यन्त आवश्यक है। मृत्यु एक आशीर्वाद है।)

तब मृत्यु से बचाकर अमृतत्व की ओर ले जाने के लिए यह प्रार्थना क्यों की है ?

और जीवन का असत्य क्या है, जिससे बचकर हम सत्य की ओर सदा के लिए जा सके ?

ऋषियों ने अनुभव से कहा है कि जीवात्मा की साधना के द्वारा परमात्मा के पास पहुंचने के लिए ही हमें जीवन मिला है, और जीवन की साधना चलाने के लिए शरीर, मन, बुद्धि आदि साधन मिले हैं। इन साधनों का सदुपयोग करना जीवन का सत्य है। इनका दुरुपयोग करना (जो हम हमेशा करते रहते हैं) असत्य है। ऐसे असत्य से बचकर (याने मुक्त होकर) सत्य का साक्षात्कार करना है।

शरीर, मन, बुद्धि, भावना आदि साधनों का दुरुपयोग करना यही है हमारे लिए मृत्यु। ऐसी मृत्यु से बचने के लिए हम जीवन-साधना चलावें; मन को शुद्ध करें; बुद्धि को परमात्मगामी बनावें; और आत्मा को परमात्मतत्त्व के साथ एकरूप बनने की साधना करें। यही है मृत्यु से बचने का सच्चा उपाय।

ऋषियों ने वेदान्त के द्वारा (याने अध्यात्म विद्या के द्वारा) यह रास्ता बताया है। वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों ने इस रास्ते जाकर यह साधना आजमाकर सिद्धि प्राप्त करने के बाद ही अपना यह अनुभवसिद्ध मार्ग प्रार्थना के रूप में मानव-जाति के सामने रखा है।

जो यह निश्चित और सफल रास्ता हमने पाया, उसी का हम भी अनुभव करें और दुनिया के सामने इसे रखें, यह हमारा प्रधान कर्तव्य है। इसीको धर्म कहते हैं।

आज के युग में समस्त मानवजाति के साथ हमारा सहयोग बढ़ रहा है। काले, गोरे, पीले, गेहूंवर्णी सब वंशों के और सब

धर्मों के मानवों के साथ सहयोग करते हमारे बीच आदान-प्रदान बढ़ता जा रहा है। पश्चिम के लोगों से, उनके पुरुषार्थ से, उनकी संस्कृति से हम भौतिक विज्ञान के नये-नये प्रयोग सीख रहे हैं। भौतिक विज्ञान ने, जीवन को नीरोगी, समर्थ और प्रसन्न बनाने के रास्ते ढूंढ़े हैं। पश्चिम के लोगों के पास से यह सारा विज्ञान हम सीखें। विज्ञान में स्वतंत्र प्रगति करने की हम भी कोशिशें करें। साथ-साथ हमारे पास अध्यात्म का जो सर्वोच्च विज्ञान है, और उसका अनुभव भी है, उसका लाभ हम पूर्व और पश्चिम दोनों संस्कृतियों को देते जायं। ऐसा करते हम अपने इस युग के सर्वोच्च पुरुषार्थ में सफल बनने के लिए भगवान से प्रार्थना करें :

ॐ असतो मा सद्‌गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर् मा(अ) मृतंगमय।

यह प्रार्थना रोज सुबह करने की है और जीवन-भर याद रखने की है।

३७ :: वेदान्त के महावाक्य

१. उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के नियम से बंधी हुई यह विशाल सनातन सृष्टि। २. उसे देखकर उसका रहस्य समझने की कोशिश करनेवाला व्यक्ति (जीवात्मा) और ३. इन दोनों के रहस्यरूप परमात्मा। ये तीनों वेदान्त के अथवा दर्शनशास्त्र के महत्व के विषय हैं। आत्मा-परमात्मा और सृष्टि का परस्पर

संबंध और आंतरिक रहस्य समझानेवाली सनातन अध्यात्म विद्या का आदिम विवरण उपनिषदों में पाया जाता है। वहां वैदिक ऋषियों ने एक ही बात अनेक ढंग से सोची है और समझायी है।

उपनिषद-चिंतन में जो मूलभूत सिद्धान्त पाये गये, उन वचनों को एकत्र करके उनको कंठ करना, उनका विवरण चलाना, उनपर भाष्य लिखना, यह मानो भारतीय विद्वानों का, साधकों का और योगियों का अत्यंत प्रिय व्यवसाय बन गया।

इन जिज्ञासु साधकों ने उपनिषदों के इन तमाम वचनों में से अत्यंत महत्व के चार वाक्य चुने। ये वाक्य हैं तो बिलकुल छोटे, सादे से भी सादे। शब्दार्थ समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं, तो भी समस्त वेदान्तविद्या इन चार वचनों में समाई है। वेदान्तविद्या का अध्ययन, मनन और चिंतन करने के बाद इन चार वाक्यों का स्मरण करना, रटन करना और उनके रहस्य का चिंतन चलाना, समस्त विद्याओं का सार पाने के जैसा है। इसीलिए वेदान्तविद्या के भक्त इन चार महावाक्यों को कंठ करते हैं, इनका जाप चलाते और एकान्त में बैठकर उन पर, भिन्न-भिन्न दृष्टि से चिंतन करते हैं। शुक-रहस्य उपनिपद में एकत्र पाये जाते हैं ये चार महावाक्य :

१. अहं ब्रह्मास्मि २. अयं आत्मा ब्रह्म ३. प्रज्ञानम् ब्रह्म, ४. तत्वमसि।

अर्थात, १. अहं याने मैं जीवात्मा अथवा आत्मा स्वयं ब्रह्म हूं।

२. यह आत्मा ही परब्रह्म है। ३. सब तरह का अनुभवज्ञान कुल मिलाकर प्रज्ञान बनता है। वही ब्रह्म है। ४. ए

साधक ! जीवात्मा तुम हो वह परमात्मा परब्रह्म है।

इन चार महावाक्यों में वेदान्त का तत्वज्ञान पूरा आ जाता है।

३८ :: "ऋतंच सत्यं च"

उपनिषदों में ये दो शब्द साथ आते हैं सत्य और ऋत। इसमें सत्य का अर्थ सब जानते हैं। जो है, सदा के लिए है, उसी को सत्य कहते हैं। सत् और सत्य एक ही है। सृष्टि चलाने में प्रकृति-माता जिन नियमों के अनुसार काम करती है, उन सिद्धांतों को सत्य कहते हैं। सत्य के पेट में ऋत आ ही जाता है।

सत्य तो बाह्य सृष्टि का या अंतःसृष्टि का नियम, कानून अथवा धर्म है। सत्य शब्द स्थितिसूचक हो सकता है।

ऋत भी है तो सत्य ही, लेकिन यह शब्द ऋ धातु पर से आया है। 'ऋ' का अर्थ है चलना। क्रिया होना अथवा करना। 'सत्य' अगर स्थिति सूचक है तो 'ऋत' शब्द गतिसूचक है। 'ऋत' और 'सत्य' मिल करके अंतर बाह्यसृष्टि का संपूर्ण कानून बनता है।

इसलिए उपनिषद-साहित्य में और बाद में भी 'सत्य' और 'ऋत' दो शब्द साथ-साथ आते हैं।

हमारे लोग ज्यादातर तत्त्वचिंतक रहे। आत्मा का दर्शन करना, उसके बारे में सुनना, उसका मनन करना और एकाग्र-

चित्त से उसका ध्यान अथवा निदिध्यास करना, यही है ऋषियों का आदेश। इसमें सबसे पहले आता है दर्शन करना। इस पर से तत्त्वज्ञान को दर्षनशास्त्र कहते हैं।

हमारे पुरखों का स्वभाव ही दार्शनिक चिंतन का रहा। इसलिए हम लोगों ने हजारों वर्ष हुए, सत्य की उपासना चलायी है। हम स्वभाव से ही सत्यधर्मा अथवा सत्योपासक हैं। हम अपने को सत्यधर्मा अथवा सत्यार्थी कह सकते हैं।

लेकिन हमें सृष्टि को चलाने वाले परमात्मा के क्रियात्मक सत्य का चिंतन भी करना है, उसका संशोधन भी करना है। तरह-तरह के प्रयोग करके 'ऋत' को पूर्ण रूप से पहचानना है। हम जैसे सत्यार्थी हैं, वैसे ऋत्तार्थी भी बनें, यह जरूरी है।

ऋतार्थी शब्द उपनिषद में पाया जाता है, लेकिन हमारे पूर्वजों ने जैसी सत्य की उपासना की, वैसी 'ऋत' की उपासना नहीं की, इस वास्ते 'ऋत' शब्द और 'ऋतार्थी' शब्द भाषा में से करीब-करीब लुप्त हो गये।

हमारी संस्कृति की यह बड़ी खामी है कि हम ऋत के उपासक न बने। ऋतार्थी न बने।

लेकिन अनंत काल में हमारा भूतकाल एक छोटा-सा हिस्सा ही है। आजतक हम केवल सत्यार्थी बने। अब पश्चिम के वैज्ञानिकों का अनुकरण करके हम ऋतार्थी भी बनें। तब हमारी संस्कृति एकांगी न रहकर सर्वांगी बनेगी।

ऋतम् के विरुद्ध शब्द है अनृत माने असत्य।

३६ :: केनोपनिषद के शांतिपाठ की विशेषता

मैंने कहा था, "चार वेदों के उपनिषदों के चार शांतिपाठ होने चाहिए, लेकिन यजुर्वेद के कृष्ण और शुक्ल ऐसे दो रूप होने से पांच शांतिपाठ हैं।" लेकिन देखता हूं कि शांतिपाठ छः माने जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद का जो पहला मंत्र है, उसीको भी शांतिपाठ मानने का रिवाज चला है। इसलिए शांतिपाठ छः हैं।

अब ईशोपनिषद शुक्ल यजुर्वेदी होने से उसका शांतिपाठ है 'पूर्णअदः' इत्यादि। आज हम केनोपनिषद ले रहे हैं। वह है सामवेद का उपनिषद्। उसका शांतिपाठ है 'आप्यायंतु ममांगानि', इत्यादि।

जिस तरह ईशोपनिषद् का नाम उसके पहले शब्द से पड़ा है, इसी तरह 'केनोपनिषद्' यह नाम भी उसके पहले शब्द से पड़ा है। इसे 'तलबकार उपनिषद्' भी कहते हैं। 'तलब' शब्द का अर्थ होता है गानेवाला। तलबकार नाम का सामवेद का एक 'ब्राह्मण' है। उस ब्राह्मण ग्रंथ में यह उपनिषद् आया है।

केनोपनिषद के ऋषि ने अपने इस उपनिषद को 'ब्राह्मी उपनिषद्' कहा है, क्योंकि उसमें ब्रह्म के सच्चे स्वरूप की चर्चा है। ब्राह्मी उपनिषद नाम सुन्दर है, अन्वर्थक तो है ही।

इसमें विशेषता यह है कि आत्मा की साधना करके ब्रह्म-प्राप्ति का उपाय बतानेवाला यह उपनिषद, मनुष्य के शरीर, उसकी इंद्रियां, उसका मन-बुद्धि, आदि अनात्म बातों की उपेक्षा नहीं करता। किन्तु शरीर, इन्द्रियां, मन आदि सब नीरोगी और

परिपुष्ट हों, ताकि उनकी मदद आत्मप्राप्ति के लिए पूरी-पूरी लेनी है। शरीर, इन्द्रियां और मन को नीरोगी और परिपुष्ट करेंगे। लेकिन उनका उपयोग ब्रह्मप्राप्ति के लिए ही करेंगे। हम शरीरवादी बनकर आत्मा का और परमात्मा का इन्कार नहीं करेंगे। उनकी अवगणना नहीं होने देंगे और हमारी प्रार्थना रहेगी कि "वह परब्रह्म भी हमारी उपेक्षा न करे।" इसलिए जो-जो सद्गुण (धर्म) उपनिषदों में बताये गये हैं, उनका हम विकास करेंगे। यहां जिन सद्गुणों को 'उपनिषदों' के धर्म के रूप में बताया है, वे ही सद्गुण भगवद्गीता में 'दैवीसंपत्' के नाम से दिये हैं। वहां उनकी संख्या बाईस है। इस उपनिषद में तप, दम, सत्य, वेदोपासना आदि बातें बतायी हैं। गीता के तेरहवें अध्याय में ज्ञान की व्याख्या में, ये ही 'उपनिषदों के धर्म' बताये हैं।

शांतिपाठ का सीधा अर्थ यह है :

"मेरे सब अंग, वाणी, प्राण, नाक, आंख, कान, उनका बल और उनके साथ दूसरी भी सब इन्द्रियां परिपुष्ट हो जायं। मेरी साधना के लिए वे सब नीरोगी, परिपुष्ट, समर्थ, बलवान बनें और उनका विकास हो।

"यह सारा (विश्व) सचमुच ब्रह्म ही है, जिसे उपनिषदों ने समझाया है।

"मैं इस ब्रह्म का इन्कार (निराकरण) न करूं, वह ब्रह्म भी मेरी उपेक्षा न करे। दोनों ओर से तनिक भी निराकरण न हो। पूरा-पूरा 'अनिराकरण' हो। सब उपनिषदों में जो साधनारूप, कर्त्तव्य, गुण अथवा धर्म बताये हैं, वे सब मुझमें विकसित हों, क्योंकि मैं आत्मा में ही निरत हूं। मैं आत्मपरायण ही हूं।"

४० :: शांतिपाठों का संपूर्ण पंचक

कृष्ण और शुक्ल ऐसे दो यजुर्वेद मानने से कुल पांच वेद होते हैं। इन पांच वेदों के तमाम उपनिषदों के लिए पांच शांति पाठ माने गए हैं।

ऋक्, यजुर्, साम और अथर्वण के रिवाजी क्रम के अनुसार ये शांतिपाठ न लेते हुए, उपनिषदों का अध्ययन करनेवाले साधकों की और उन्हें मदद करनेवाले गुरुओं की सहूलियत के अनुसार इन पांच शांतिपाठों का क्रम यहां तय किया है। हर एक उपनिषद के पहले उसका शांतिपाठ दिया होता है। सो देख लेना। जिनके लिए ये पाठ हैं, उनकी सहूलियत इस क्रम से सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

प्रथम शांतिपाठ बहुवचनी पसंद किया है। क्योंकि गुरु-शिष्य आदि अध्ययन करनेवाले और सुननेवाले सब मिलकर यह बोलेंगे।

उसके बाद गुरु-शिष्य दोनों की सहूलियत के लिए द्विवचनी शांतिपाठ लिया है। संस्कृत भाषा में द्विवचनी रूपों की सुविधा है, इससे लाभ उठाया है।

इसके बाद दो शांतिपाठ चिंतनशील विद्यार्थी-शिष्यों के लिए खास एकवचनी बनाए गए हैं।

और पांचवां—अंतिम सर्वोच्च और सबसे छोटा शांतिपाठ उपनिषद् विद्या का वर्णनात्मक है। इससे सब भक्तों को त्रिविध शांति मिल सकती है।

अब ये शांतिपाठ शुरू करते हैं।

१. ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः ।
भद्रं पश्येमाक्षभिर् यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस् तुष्टुवांसस् तनूभिः ।
व्यशेम देवहितं यदायुः ।।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

'अर्थात्, हे देव, हम अपने कानों से अध्यात्मविद्या जैसे कल्याणकारी भद्र वचन ही सुनें। यज्ञों के द्वारा आदरणीय बने हुए हे ऋषिगण, हम अपनी आंखों से भद्र यानी शुभ तत्वों का ही दर्शन करें और आपकी स्तुति करते-करते हम लोग अपने स्थिर अंगोंवाले मजबूत शरीरों द्वारा देवों के दिए हुए आयुष्य का सदुपयोग करें।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

\+ \+ \+

२. ॐ सह नाववतु ।
सह नौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नौ अधीतम् अस्तु ।
मा विद्विषावहै ।
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

ॐ भगवान परमात्मा हम दोनों का (गुरु-शिष्यों का) एकत्र रक्षण करें।

हम दोनों को एकत्र पोषण दे दें।

हम दोनों मिलकर (ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान-प्रचार के जैसा) पराक्रम करते रहें। इस तरह हम दोनों का अध्ययन सामर्थ्य देने वाला तेजस्वी बने। और, हे भगवान ! हम गुरु-

शिष्य दोनों में किसी भी प्रकार की ईर्षा-द्वेष पैदा न हो जाय।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

— — —

३ ॐ आप्यायन्तु मम अंगानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं अथो
बलं इंद्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्म औपनिषदम् ।
माहं ब्रह्म निराकुर्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोत् ।
अनिराकरणं अस्तु । अनिराकरणं मे ऽस्तु
तदात्मनि निरते ये उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु ।
ते मयि सन्तु ।।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

अर्थात, ॐ हाथ, पांव आदि मेरे अंग और मेरी वाणी, मेरे प्राण, आंखें, कान सब पुष्ट हो जायें । सब इन्द्रियों में बल आ जाय । उपनिषद ने जिसका वर्णन किया है, वह सर्व ब्रह्म ही है । मेरी तरफ से उस ब्रह्म का निराकरण कभी न हो जाये । ब्रह्म मेरा निराकरण याने उपेक्षा न करे। उपनिषदों में जो धर्म व्यक्त हुए हैं, वे सब आत्मपरायण मुझमें जाग्रत (विकसित) हो जायं । मुझमें प्रकट हो जायं ।

ॐ शांतिः शांतिः शांति ।।

— — —

४. ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता । मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् आविराविर् म ऐधि । वेदस्य म आणी स्थः । श्रुतं मे मा प्रहासीः अनेन अधीतेन अहोरात्रान् संदधामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन् मां अवतु । तद् वक्तारं अवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । अवतु वक्तारम् ।।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

मेरी वाणी मेरे मन में प्रतिष्ठित हुई है, स्थिर हुई है। मेरा मन मेरी वाणी में प्रतिष्ठित हुआ है। हे प्रकाशरूप आत्मन्! मेरे लिए मुझमें प्रकट हो जाओ।

हे मेरे मन और वाणी! मेरे लिए, वेद प्राप्त करने के लिए तैयार हो जाओ। मेरा अध्ययन मेरा त्याग न करे। मेरे अध्ययन द्वारा मैं दिन और रात एक कर दूंगा।

मैं ऋतं याने धर्मवचन बोलूंगा। मैं सत्य बोलूंगा। (मैं ऋत और सत्य का प्रचार करूंगा।) सत्यनारायण ऋत मेरा रक्षण करे। सत्य प्रचारकों का रक्षण करे। मेरा रक्षण करे। प्रचारकों का रक्षण करे। प्रचारकों का रक्षण करे।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

— — —

ॐ पूर्ण अदः पूर्ण इदम्
पूर्णात् पूर्ण उदच्यते
पूर्णस्य पूर्ण आदाय
पूर्ण एव अवशिष्यते ॥

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

अर्थात् वह (परब्रह्म) पूर्ण है, यह (आत्मतत्व) पूर्ण है। उस पूर्ण में से ही यह पूर्ण प्रकट हुआ है। उस पूर्ण में से इस पूर्ण को यदि ले लिया, तो पूर्ण में (बढ़ना-घटना) कम-ज्यादा कुछ होता नहीं, पूर्ण ही रहता है।

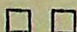
ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

हमारा उपनिषदों का अध्ययन भी पूर्ण हो जाय। पूर्ण परमात्मा हमारी साधना को पूर्णतया सफल बनावे।

'मंडल' का
धर्म-अध्यात्म साहित्य



- अनासक्ति योग
- गीता-पदार्थ कोश
- गीता की महिमा
- भागवत कथा
- संत सुधासार
- भगवद्गीता
- भगवान् हमारा मित्र
- रामकृष्णं उपनिषद
- विष्णु सहस्रनाम
- गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे
- कबीर साहब की सुबोध सखियां
- रहीम के सुबोध दोहे
- गिरधर की सुबोध कुण्डलियां
- बुद्ध-वाणी
- उपनिषद
- आत्मचिन्तन
- वेदान्त
- वृन्द कवि के सुबोध दोहे
- कविवर बिहारी के सुबोध दोहे
- भक्तवर सूरदास के सुबोध दोहे
- गीता प्रवेशिका
- श्री अरविन्द का जीवन दर्शन
- ईसा जीवन और दर्शन
- भज गोविन्दम् स्तोत्र





सस्ता साहित्य मण्डल